कार्य

I

419135
92
3932
6468

पटवर्धन

बीरबल सिंह मुकुटबिहारी लाल

राजाराम शास्त्री रमाशंकर पाण्डेय

सत्यप्रकाश शास्त्री

लेखकों से निवेदन

समाज में समाजविज्ञान, सामाजिक कार्य, मानवविज्ञान, संस्कृतिविज्ञान, अर्थशास्त्र और इनकी शाखाओं-उपशाखाओं से सम्बन्धित व्यावहारिक अध्ययनों और विचारात्मक तथा सैद्धान्तिक रचनाओं को स्थान दिया जाता है।

इसके अतिरिक्त गवेषणा-कार्यों और विभिन्न सामाजिक संगठनों और संस्थाओं की सामयिक प्रगति के समाचार और हिन्दी, अँग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं की समीक्षा दी जाती है।

रचनाएँ हिन्दी में होनी चाहिए, किन्तु विशेष स्थिति में अन्य भाषाओं की रचनाओं के अनुवाद की व्यवस्था है।

लेख कागज के एक ओर टाइप किया हुआ अथवा साफ-साफ लिखा होना चाहिए।

अप्रैल, जुलाई, अक्तूबर तथा जनवरी में प्रकाशित

वार्षिक मूल्य ८) एक प्रति २)

समाजविज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ, वाराणसी-२

'समाज' त्रैमासिक

विषय-सूची

वर्ष ४ अङ्क ३ अक्तूबर १९५८ पूर्णाङ्क १५

सम्पादकीय निवेदन

अपने पाठकों के सामने 'समाज' का 'लोक-संस्कृति अंक' प्रस्तुत करते समय हमें बड़ी प्रसन्नता है। ये लेख गत वर्ष प्रयाग में आयोजित अखिल भारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में पढ़े गये थे। यहाँ जिन विषयों पर लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं वे उन-उन विषयों के अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। सम्मेलन में प्रस्तुत कुल लेखों को दो भागों में विभक्त किया गया है; (१) लोक-संस्कृति और (२) लोक-साहित्य। प्रथम शीर्षक के अन्तर्गत आने वाले लेखों में लोक-संस्कृति की महत्ता, उसकी व्यापकता, विशेषता तथा विशालता आदि विषयों पर गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वैदिक साहित्य तथा सन्त-साहित्य में लोक-संस्कृति के जो तत्त्व प्राप्त होते हैं, उनका विशद वर्णन यहाँ हुआ है। इसके अतिरिक्त जनपदीय लोक-संस्कृतियों का भी चित्रण उपस्थित किया गया है। इस अंक में इसी प्रथम शीर्षक 'लोक-संस्कृति' के अन्तर्गत आने-वाले लेखों को प्रस्तुत किया जा रहा है। 'लोक-साहित्य' के लेखों को जनवरी १९५९ के अंक में दिया जावेगा।

भारत के विभिन्न जनपदों में लोक-साहित्य सम्बन्धी अनन्त सामग्री उपलब्ध होती है। इन जनपदों के लोक-साहित्य में लोकगीत, लोक-गाथा एवं लोक-कथा के रूप में जो अमूल्य राशि भरी पड़ी है उसी का संक्षिप्त तथा विद्वत्तापूर्ण वर्णन हमें इन लेखों में मिलता है। पंजाबी, चम्बिआई, कौरवी, मालवी, निमाड़ी, मैथिली, मगही तथा भोजपुरी भाषाओं के लोक-साहित्य का वर्णन कर उत्तरी भारत की लोक-साहित्य की परम्परा को प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है। इनमें से अनेक जनपदों के लोक-साहित्य का वर्णन सबसे पहली बार यहीं हुआ है। सम्भवतः हिन्दी में भारतीय लोक-संस्कृति तथा लोक-साहित्य सम्बन्धी इतनी विपुल तथा ठोस सामग्री अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। अतः 'समाज' का यह 'लोक-संस्कृति विशेषांक' अनेक दृष्टियों से अपना विशेष महत्त्व रखता है।

उपर्युक्त लोक-संस्कृति सम्मेलन में अनेक लेख अंग्रेजी में भी पढ़े गये थे। हमें दुःख है कि समयाभाव के कारण उन लेखों का अनुवाद हम इस विशेषांक में नहीं छाप सके। आशा है कि निकट भविष्य में समाजविज्ञान परिषद्, वाराणसी के द्वारा पुस्तक रूप में हम इन सभी लेखों को प्रकाशित कर पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सकेंगे।

अन्त में हम 'भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान,' इलाहाबाद के अधिकारियों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने 'समाज' के पाठकों के सम्मुख हमें इन लेखों को भेंट करने का अवसर प्रदान किया। इस शोध-संस्थान के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी अंक के अन्त में दी गई है।

अखिल भारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन—संक्षिप्त विवरण

अखिल भारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन १२, १३ और १४ अक्तूबर को इलाहाबाद में हुआ। यहाँ 'भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान' की स्थापना हुयी, जो एक स्थाई संस्था के रूप में काम करेगी। इस शोध-संस्थान के अन्तर्गत एक लोककला संग्रहालय, एक पुस्तकालय, लोक-नृत्य तथा लोक-नाट्य विभाग, प्रकाशन विभाग और अनुसंधान विभाग खोले जायँगे।

इस सम्मेलन की योजना तथा संगठन का श्रेय मुख्यतः श्री व्रजमोहन व्यास, श्री कृष्णदास और डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय को है। डॉ० सम्पूर्णानन्द (मुख्य-मन्त्री, उत्तरप्रदेश सरकार) ने इस प्रथम सम्मेलन का उद्‌घाटन किया और वयोवृद्ध, प्रख्यात मानववैज्ञानिक डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त ने इसकी अध्यक्षता की। देश के विभिन्न अंचलों से लोक-संस्कृति के विद्वानों ने भाग लिया। इनमें विभिन्न संस्कृतियों, शोध-संस्थानों, विश्वविद्यालयों तथा राज्य सरकारों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे। समग्र सम्मेलन की बैठकों के अतिरिक्त अनुभागीय बैठकें भी की गईं। विषयों के अनुसार सम्मेलन के तीन अनुभाग थे—

१. 'मानवविज्ञान तथा लोक-संस्कृति'—अध्यक्ष, डॉ० आशुतोष भट्टाचार्य, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता।

२. लोक-साहित्य—अध्यक्ष, डॉ० कुंजबिहारी दास, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, बोलपुर।

३. लोक-कला तथा लोक-संगीत—अध्यक्ष, श्री जी० सी० कर्वे, पूना।

तीनों अनुभागों में, अध्यक्षीय भाषणों और समग्र सम्मेलन के उद्‌घाटन तथा स्वागत-भाषण को मिला कर, ३४ निबन्ध (पेपर्स) पढ़े गये, जिनमें २४ हिन्दी में और १० अंग्रेजी में हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक अनुभाग में रोचक तथा विचारोत्तेजक वाद-विवाद हुआ।

संगोष्ठी

इसके अतिरिक्त 'वर्तमान काल में लोक-संस्कृति की महत्ता' पर एक संगोष्ठी (सिम्पोज़ियम) भी हुई। इसकी अध्यक्षता श्री मधुभाई पटेल ने की। इसमें डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (इलाहाबाद), प्रो० बलदेव उपाध्याय (वाराणसी), डॉ० आशुतोष भट्टाचार्य (कलकत्ता), डॉ० कुञ्जबिहारी दास (शान्तिनिकेतन), श्री सी० जी० कर्वे (पूना), डॉ० प्रभाकर माचवे (दिल्ली) और श्री सीताराम चतुर्वेदी (वाराणसी) ने भाग लिया।

सांस्कृतिक मनोरंजन

इस सम्मेलन के अवसर पर लोकगीत, लोक-नाट्य तथा लोक-नृत्य के कार्यक्रमों का भी आयोजन किया गया। इन कार्यक्रमों में लगभग २५ पार्टियों तथा संस्थाओं ने भाग लिया। इस कार्यक्रम में मनीपुरी पार्टी तथा सिद्धेश्वर मुखर्जी की कलकत्ता पार्टी ने बहुत सुन्दर प्रदर्शन किया। मनीपुर का नागानृत्य तथा बंगाल के बाउल-गीत तथा नृत्य ने दर्शकों को विभोर कर दिया। मोहनचन्द्र उपरेती का कुमायूँनी नृत्य बड़ा ही मनोहर तथा आकर्षक था। इलाहाबाद की स्थानीय पार्टियों में पञ्चानन पाठक की पार्टी, ग्राम-कला-निकेतन तथा गीतांजलि पार्टी का प्रदर्शन बहुत ही सुन्दर था।

कविसम्मेलन

इस अवसर पर श्री मुक्तिभद्र दीक्षित के द्वारा एक लोक-कवि-सम्मेलन भी आयोजित किया गया था जिसमें हिन्दी की प्रमुख बोलियों के लगभग २० लोक-कवियों ने भाग लिया था। अवधी के सुप्रसिद्ध कवि श्री बंशीधर शुक्ल ने इसका सभापतित्व किया था, जिन्हों ने अपनी हास्य-रसमयी कविता को सुनाकर हजारों श्रोताओं को प्रसन्न कर दिया था। इस प्रकार यह लोक-कवि-सम्मेलन बड़ा ही सफल रहा।

उत्तर प्रदेश सरकार ने इस सम्मेलन के लिए ५,००० रु० का अनुदान देकर विशेष सहायता प्रदान की।

भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान, इलाहाबाद

अखिल भारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्ताव के फलस्वरूप इलाहाबाद में 'भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान' की स्थापना की गई है, जिसके उद्देश्य निम्नांकित हैं—

(१) लोक-गीत, लोक-गाथा, लोक-कथा आदि का संग्रह, संरक्षण तथा प्रकाशन करना।

(२) लोकगीतों तथा लोक-कथाओं के रेकार्ड तैयार कर उनकी मूल धुनों की रक्षा करना।

(३) लोक-नृत्य, लोक-नाट्य तथा विभिन्न लोक-उत्सवों—जैसे होली, दिवाली, दशहरा आदि के फिल्म तैयार करना।

(४) लोक-कला सम्बन्धी विभिन्न वस्तुओं—जैसे वेशभूषा, औजार, हथियार, आभूषण, चित्र, मृण्मूर्तियाँ, सिक्के, मनके, वाद्य यन्त्र, सूई के काम तथा मिट्टी के बर्तनों का संग्रह।

(५) पुस्तकों तथा शोध-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करना।

(६) लोक-संस्कृति के विद्वानों तथा शोधी छात्रों को अनुसन्धान की सुविधायें प्रदान करना।

(७) शोधी छात्रों को उनके अनुसंधान के सम्बन्ध में पथ-प्रदर्शन करना तथा लोक-संस्कृति के विद्वानों को निमन्त्रित कर व्याख्यान का आयोजन करना।

(८) भारत के विभिन्न स्थानों पर 'अखिल भारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन' का वार्षिक अधिवेशन करना तथा इस प्रकार देश के विभिन्न विद्वानों को विचार-विनिमय के लिए अवसर प्रदान करना।

इस शोध-संस्थान के अन्तर्गत पाँच विभाग होंगे; जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है।

(१) लोक-कला-संग्रहालय

भारत में लोक-कला की अनन्त सामग्री विद्यमान है जो उपेक्षा के कारण कराल काल द्वारा कवलित होती जा रही है। अतः शीघ्र ही यदि इन वस्तुओं की रक्षा न की गई तो भारत की अनेक कलात्मक कृतियाँ नष्ट हो जायँगी। इसी हेतु इस लोक-कला-संग्रहालय में निम्नांकित वस्तुओं का संग्रह किया जायेगा—

वेश-भूषा, स्त्रियों तथा पुरुषों के आभूषण, बढ़ई, लोहार, सोनार, कुम्भकार, मछुआ आदि विभिन्न जातियों के औजार तथा साधन; किसान की खेती के साधन; मृण्मूर्तियाँ, जिनमें विभिन्न देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ रहेंगी; युद्ध के विभिन्न हथियार—अस्त्र तथा शस्त्र; प्रस्तर, धातु तथा लकड़ी के कार्य, चित्र, वाद्य-यन्त्र तथा कागज, रूई और सूई की कढ़ाई की वस्तुएँ।

(२) पुस्तकालय

इस शोध-संस्थान में एक वृहत् पुस्तकालय रहेगा, जिसमें लोक-साहित्य, लोक-संस्कृति, समाज-शास्त्र तथा मानवविज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें रहेंगी। देश तथा विदेश में लोक-संस्कृति सम्बन्धी जो शोध पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हो रही हैं, उन्हें भी इस पुस्तकालय में रखा जायेगा, जिससे शोधी छात्रों को अनुसंधान में सहायता मिल सके।

इस पुस्तकालय के अन्तर्गत एक 'पाण्डुलिपि-संग्रह' विभाग भी होगा, जहाँ विभिन्न शोधकर्ताओं द्वारा संकलित लोक-गीतों, गाथाओं तथा कथाओं का संग्रह सुरक्षित रखा जायेगा।

ग्रामीण गवैयों से गीतों को गवा कर उनकी टेप-रिकार्डिङ्ग तैयार की जायेगी, जिससे लोकगीतों की मूल-धुनों की रक्षा हो सके। इस शोध-संस्थान का 'फिल्म डिवीजन' लोक-नृत्य, तथा लोक-नाट्यों का फिल्म तैयार करेगा।

(३) लोक-नृत्य तथा लोक-नाट्य विभाग

इस विभाग का मुख्य उद्देश्य लोक-नृत्यों का आयोजन करना तथा लोक-नाट्यों का अभिनय करना होगा। भारत के विभिन्न राज्यों में अनेक लोक-नृत्य उपलब्ध होते हैं, जिनमें गुजरात का गर्वा नृत्य, पंजाब का भाँगड़ा नृत्य, कुमायूँ का झोटा नृत्य तथा ब्रजमण्डल का रास प्रसिद्ध हैं। श्री जे० पी० वर्मा तथा श्री युक्तिभद्र दीक्षित के उद्योग से 'फोक थियेटर्स' नामक एक संस्था की स्थापना भी प्रयाग में हो चुकी है, जिसका उद्देश्य भी यही है।

(४) प्रकाशन विभाग

इस विभाग के द्वारा भारतीय लोक-साहित्य एवं लोक-संस्कृति के सम्बन्ध में परिचयात्मक तथा शोधपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की जायँगी। यह विभाग 'भारतीय लोक-संस्कृति' नामक एक त्रैमासिक शोध-पत्रिका भी प्रकाशित करेगा, जिसमें अधिकारी विद्वानों के लेखों को स्थान दिया जायेगा। इस पत्रिका में भारत की विभिन्न भाषाओं के लोक-गीतों तथा कथाओं का संग्रह भी मुद्रित होगा।

(५) अनुसंधान विभाग

लोक-संस्कृति के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों तथा छात्रों को सहायता पहुँचाना तथा उनका पथ-प्रदर्शन करना इस विभाग का प्रधान उद्देश्य होगा। यहाँ स्वतन्त्र रूप से अथवा किसी विश्वविद्यालय की शोध सम्बन्धी उपाधि प्राप्त करने के लिए अनुसन्धान में निरत छात्रों को आर्थिक सहायता भी दी जायेगी, जिससे वे निश्चिन्त होकर अपना शोध-कार्य कर सकें।

शोध-संस्थान की सदस्यता

इस संस्थान के सदस्य तीन प्रकार के होंगे—

(१) सम्मानित सदस्य,

(२) आजीवन सदस्य,

(३) साधारण सदस्य।

लोक-संस्कृति के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् ही इस संस्थान के सम्मानित सदस्य होंगे। जो सज्जन दान रूप में इस संस्थान को १,०००) प्रदान करने की कृपा करेंगे वे आजीवन सदस्य होंगे। जो कोई भी व्यक्ति लोक-साहित्य एवं लोक-संस्कृति से प्रेम रखता है वह इस संस्थान का साधारण सदस्य बन सकता है। इसका वार्षिक सदस्यता-शुल्क १०) है। शोध-संस्थान की 'भारतीय लोक-संस्कृति' नामक त्रैमासिक पत्रिका सभी सदस्यों को निःशुल्क दी जायेगी। भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान की कार्य-कारिणी समिति में भारत के प्रत्येक राज्य का कम से कम एक प्रतिनिधि अवश्य रहेगा। इसके अतिरिक्त लोक-संस्कृति के क्षेत्र में काम करनेवाली सुप्रसिद्ध संस्थाओं का भी इसमें प्रतिनिधित्व होगा।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय
अवैतनिक सचिव
'भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान'
इलाहाबाद

लोक-संस्कृति की महत्ता

सम्पूर्णानन्द

आप लोगों ने जो विशाल आयोजन किया है, उसके लिए मैं आपको बधाई देता हूँ।* जहाँ तक मेरी जानकारी है यह अपने देश में इस ढंग की पहली ही सम्मेलिनी है। यह परितोष की बात है कि इसके बुलाने का और भारतीय लोक-संस्कृति में दिलचस्पी लेने वाले इतने विद्वानों को एक मंच पर एकत्र करने का श्रेय इस प्रदेश को मिला। यह आशा करनी चाहिए कि यह पहला होने के साथ ही साथ अन्तिम सम्मेलन होकर न रह जायगा।

पहले तो संस्कृति शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। फिर भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व क्या है, उसका अर्थ क्या है, इस विषय में तो बहुत मतभेद है। आजकल इस प्रस्ताव पर विचार हो रहा है कि भारतीय और अमेरिकी, अमेरिका से मेरा तात्पर्य संयुक्त राज्य से है, संस्कृतियों के सम्बन्ध में दोनों देशों में विचार-विमर्श हो। इसके पहले केन्द्रीय शिक्षा विभाग ने कई भारतीय विद्वानों से लिखकर यह पूछा है कि आपकी सम्मति में भारतीय संस्कृति का सार क्या है। सम्भव है कि इस विचार-विनिमय के फलस्वरूप कुछ सिद्धांत स्थिर हो सकें। लोक-संस्कृति तो और भी विवाद का विषय है। आजकल लोक-संस्कृति का नाम लेना फैशन में आ गया है। किसी शिक्षा संस्था का वार्षिकोत्सव हो, नियोजन सम्बन्धी कोई सभा हो, विदेशियों का मनोरंजन करना हो, लोक-संस्कृति के कार्यक्रम के नाम से पुट देना अनिवार्य हो गया है। बन्दर-भालू के नाच से लेकर कजली-रसिया तक सभी लोक-संस्कृति के अन्तर्गत हैं। लोक-संस्कृति उस प्रकार के नाच-गाने और खेल-तमाशे का नाम पड़ गया है जिससे शिक्षितम्मन्य लोग अलग रहते हैं परन्तु उसको प्रोत्साहित करना आवश्यक समझते हैं, ठीक उसी तरह जैसे कि अबोध बच्चों के खेलकूद को बर्दाश्त करना ही पड़ता है। बर्दाश्त ही नहीं, उसको प्रोत्साहित भी करना पड़ता है।

संस्कृति शब्द की पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ दी जा सकती हैं। मैं यहाँ दर्शन की या समाज-शास्त्र की पुस्तक लिखने नहीं बैठा हूँ इसलिए व्याप्ति, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति आदि दोषों से मुक्त परिभाषा बताना मेरे लिए आवश्यक नहीं

* उद्घाटन-भाषण।

है। यहाँ मेरे लिए इतना संकेत करना पर्याप्त है कि किसी समाज की संस्कृति इस बात का परिचय देती है कि वह समाज जीवन के प्रश्नों को किस दृष्टिकोण से देखता है। संस्कृति के क्रोड में समाज की आशा, निराशा, इच्छा और इच्छाभिघात, आकांक्षाएँ खेलती हैं। संस्कृति इन सबको रंजित करती है। समाज में स्त्री भी हैं और पुरुष भी हैं, शिक्षित भी हैं और अशिक्षित भी हैं। भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले हैं। भारत जैसे देश में भिन्न वर्ण हैं। वर्णयुक्त और वर्णहीन, दोनों प्रकार के समाजों में भिन्न वर्ग हैं। इन सब समुदायों की समस्याएँ पृथक्-पृथक् हैं, अनुभूतियाँ पृथक्-पृथक् हैं, धार्मिक विचार अलग-अलग हैं, इसलिए दृष्टिकोण भी अलग-अलग हैं और इनके आदर्श, जीवन के प्रति रुख, अलग-अलग हैं। यों कह सकते हैं कि संस्कृति अलग-अलग हैं। परन्तु जिस प्रकार मानव शरीर में प्रत्येक कोष्ठ के जीवन के पृथक् होते हुए भी एक सत्ता है जो सारे शरीर में व्याप्त है और जो पृथक्-पृथक् कोष्ठ सत्ताओं को एक-दूसरे से सम्बद्ध करती है, इसी प्रकार सारे समाज की एक संस्कृति होती है। समाज जड़-पत्थरों का ढेर नहीं है, मनुष्यों का समुदाय है, ऐसा अवयवी है जिसका प्रत्येक व्यक्ति अवयव है। अतः यों कह सकते हैं कि सारे समाज की अपनी एक आत्मा है। सारा समाज एक अदृश्य सूत्र से बँधा हुआ है, कुछ अदृश्य शक्तियों के द्वारा प्राणित हो रहा है और उसका एक व्यापक दृष्टिकोण है, उसकी एक विशेष संस्कृति है। भारत के रहने वाले किसी एक जाति, अंग्रेजी शब्द में 'रेस' के नहीं हैं। उनमें वर्ण, वर्ग, धर्म, व्यवसाय आदि के भेद विद्यमान हैं। यह भेद आज से नहीं, प्राचीन काल से चले आते हैं। पर आदिकाल से ही भारत की एकता की धारणा भी चली आती है। अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त हमारा प्राचीनतम राष्ट्रगान है। स्यात् किसी दूसरे देश में ऐसा प्राचीन राष्ट्रगान न होगा। उसकी एक-एक पंक्ति देश के प्रति, मातृभूमि के प्रति, स्नेह और गर्व की सूचना देती है। सूक्त में भारत के सम्बन्ध में कहा गया है कि इसमें नाना धर्माणो विवाचसः—अनेक धर्मों को पालन करने वाले और अनेक भाषाओं के बोलने वाले—रहते हैं। धर्म शब्द का अर्थ मजहब या रिलिजन नहीं है। जैमिनि के अनुसार यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः—जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में सद्गति हो उसको धर्म कहते हैं। नाना धर्माणो का अर्थ हुआ लोक-परलोक के सम्बन्ध में अनेक विचारों को माननेवाले। जिस भारत की पवित्र नगरियाँ उत्तर में मायापुरी, मध्य में अवन्तिका और दक्षिण में कांची तक फैली हुई हैं, जो देश सिन्धु, सरस्वती और गंगा को ही नहीं, दक्षिण में बहने वाली कावेरी को भी अपनी पवित्र नदी मानता हो, जिसके चार पवित्र तीर्थ चारों दिशाओं में स्थापित हों, उसमें निश्चय ही कोई न कोई एक सूत्र में बाँधनेवाली विचारधारा है। सम्राट् और चक्रवर्ती आये और गये। देश ने अनेक राजनीतिक उथल-पुथल देखे, परन्तु उसने ऐसा कभी नहीं माना कि उसकी एकता छिन्न हुई। जो शब्द पहले सप्तसिन्धव के आकाश में गूँजा वही शब्द केरल में श्री आदि शंकराचार्य के द्वारा मुखरित हुआ और आज भी सुदूर कन्याकुमारी के चरणों में टकराने वाली समुद्र लहरियों से प्रतिध्वनित हो रहा है। आज हम आर्य और द्रविड़, उत्तरी भारतीय और दक्षिणी भारतीय के विवाद

सुनते हैं। राम उत्तर भारत के प्रतीक माने जाते हैं और रावण दक्षिण भारत के। परन्तु विवाद करने वाले इस बात को भूल जाते हैं कि जिन गाथाओं से हमको राम और रावण की कथा मिलती है उन्हीं के अनुसार रावण ब्राह्मण था और यदि उसने स्वयं पौरोहित्य करके राम के यज्ञ को सम्पन्न न करवाया होता तो न रामेश्वर के मन्दिर की स्थापना होती और न राम खैरियत से अयोध्या लौट सकते। भारत में पठानों और मुगलों के साथ पश्चिम से कुछ विचार आये, इस्लाम ने इस देश में प्रवेश किया, पर यह स्मरण रहे कि हमारे यहाँ इस्लाम उस रूप में आया जो फारसी की पहलवी आदि उपभाषाओं के द्वारा व्यक्त होता है। ईरान के रहने वाले पारसी आर्यों की अनिन्द्र अर्थात् इन्द्र को न मानने वाली शाखा के वंशज थे। उपासना की कुछ बातों को छोड़ कर उनके विचार भी उन विचारों से मिलते-जुलते थे जो वेद-मन्त्रों में देख पड़ते हैं। धर्म-परिवर्तन के बाद भी वे दार्शनिक विचार उनकी बुद्धि से गये नहीं, केवल उन्होंने इस्लामी आवरण स्वीकार कर लिया। इसीलिए तसव्वुफ़ का विकास ईरान में अधिक हुआ और भारत में इस्लाम तसव्वुफ़ के साथ आया। उसको यहाँ के योग और वेदान्त में वही बातें मिलीं जिनकी वह स्वयं चर्चा करता था। परिणाम यह हुआ कि जहाँ पूजा-पाठ की बाह्य बातों में हिन्दू और मुसलमानों का मतभेद रहा वहाँ दार्शनिक विचार आपस में बड़ी सुगमता से हिलमिल गये। कबीर इस सम्मिलन के प्रतीक माने जा सकते हैं। पर वह अकेले नहीं थे। बजहन, बुल्ला आदि कई ऐसे महात्मा हो गये हैं जिनको हिन्दू या मुसलमान दो में से किसी एक कटघरे में बन्द करना अन्याय करना होगा। हम संस्कृत के ग्रन्थों में अनाहत शब्द की चर्चा सुनते आये हैं। वही चर्चा कबीर आदि सभी संतों की वाणी में प्रचुर मात्रा में फैली हुई है। अब मैं आपको एक मुसलमान महात्मा की वाणी की कुछ पंक्तियाँ सुनाता हूँ—

हैफ़ दर बन्दे जिस्म दरमानी, न शुनी सौते पाके रहमानी,
हमः आलम पुरस्त अज़ आवाज़, लेक दरहाये, गोशे .खुद कुन बाज़,
अव्वलो आख़िरश चुं बेहद शुद, जां सबब नामे ऊ ब अनहद शुद।

—खेद है कि तू शरीर के बन्धन में पड़ा हुआ है और दिव्य पवित्र नाद को नहीं सुनता। सारा ब्रह्माण्ड शब्द से परिपूर्ण है। अपने कान के द्वार को खोल। चूँकि उसका आदि और अन्त निस्सीम है इसलिए उसका नाम अनहद पड़ा।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जिसको हम भारतीय संस्कृति कहते हैं वह अनेक धाराओं के मिलने से बनी है। परन्तु वह सब धाराएँ इस प्रकार मिलकर एक हो गई हैं कि अब उनकी पृथक् सत्ता का लोप हो गया है। हमारे सामने एक अविच्छिन्न अविच्छेद्य भारतीय संस्कृति है। इस संस्कृति की आधारशिला क्या है, मूल मन्त्र क्या है? मेरी समझ में इसको विराट् पुरुष की कल्पना से व्यक्त कर सकते हैं। इस जगत में जड़-चेतन जो कुछ भी है वह सब विराट् पुरुष का अंग है। इस कारण सबका सबके साथ अटूट संबंध है। विभिन्न सत्व, विभिन्न प्राणी, अंग हैं, वह अंगी है। सब अंश हैं, वह अंशी है। कोई किसी से पृथक् नहीं है। सबके सुख-दुख एक दूसरे के साथ बँधे हुए हैं। ऊँचे से ऊँचे

देवगण और छोटे से छोटा मिट्टी में रहने वाला कीड़ा एक ही सूत्र में माला के दाने की भांति ग्रथित हैं। जिस प्रकार मानव शरीर के किसी छोटे से कोने में पीड़ा होने से मस्तिष्क विचलित हो उठता है और सारा शरीर व्यथित हो जाता है, उसी प्रकार विराट् पुरुष के शरीर के अवयवों की दशा है। ऐसी दशा में केवल अपना भला सोचना पागलपन है। सबका भला तो अपना भला। दूसरे को क्षति पहुँचा कर अपनी भलाई की बात सोचना ऐसा शस्त्र है जो उलट कर चलाने वाले को ही मार देता है। यदि सबके हित की बात की जाय तो अपना हित आपसे आप हो जायगा। इसीलिए उपनिषद् में कहा है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—त्याग के द्वारा भोग करो। मेरी समझ में त्याग भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है। त्याग के साथ भूतदया आ जाती है। प्रत्येक वस्तु में परमात्मा अर्थात् अंशी को देखना इस रत्न का एक तीसरा पहलू है। गरीब से गरीब, अनपढ़ से अनपढ़ मनुष्य 'ईश्वर अंश जीव अविनासी' की बात मानता है। यह दूसरी बात है कि उसका आचरण वैसा शुद्ध और परिपक्व न हो जैसा कि इस विचार के अनुसार होना चाहिए। कर्म सिद्धांत इन्हीं विचारों से सम्बद्ध है। 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा' सबकी जिह्वा पर रहता है। यह केवल मुँह से दोहरा देने की बात नहीं है। हमारे व्यवहार में भी यह बात देखी जा सकती है। मैं आपके सामने दो उदाहरण रखता हूँ जिन्होंने मेरे जैसे बहुत से लोगों को प्रभावित किया है। पिछले साल जब हमारे प्रदेश के कई जिलों में भयानक बाढ़ आयी थी उसी समय पश्चिम के कुछ देशों में भी बाढ़ आ गयी। वहाँ भयानक लूट-पाट आरम्भ हो गई। पुलिस और सेना का विशेष प्रबन्ध करना पड़ा। हमारे यहाँ ऐसी कोई भी बात नहीं हुई। अभी हाल ही में जब अन्न-कष्ट की चर्चा बड़े जोरों से चल रही थी, बहुत-से लोग गाँववालों के पास गये और उन्होंने उनसे इस सम्बन्ध में बात की तो उनको प्रायः यह उत्तर मिला कि मनुष्य यत्न भर कर सकता है। हमने जैसा किया है उसी का फल हमारे सामने है. किसी प्रकार का उपद्रव करने से कर्म-फल मिट नहीं सकता। कर्म सिद्धांत पर विश्वास मनुष्य को निकम्मा, कर्म-विमुख नहीं बनाता, परन्तु विपत्ति से घिर जाने पर उसको बहुत दृढ़ सम्बल देता है। मेरी समझ में भारतीय संस्कृति की यह मुख्य विशेषताएँ हैं।

आप संभवतः यह कहेंगे कि मैं प्रस्तुत विषय अर्थात् लोक-संस्कृति से बहुत दूर चला गया हूँ। सम्भव है विषय के प्रतिपादन में मैं ऐसी बातें कह गया हूँ जो संक्षेप में भी कही जा सकती थीं। यदि मैंने अपनी दीर्घसूत्रता से आपको थका दिया है तो क्षमा चाहता हूँ, पर मेरा ऐसा विश्वास है कि भारतीय संस्कृति की इस भूमिका को ध्यान में रखे बिना लोक-संस्कृति समझ में नहीं आ सकती। देहात का रहने वाला इसी संस्कृति की गोद में पला है। भले ही वह संस्कृत न जानता हो, अपने प्रदेश के साहित्यिक वाङ्मय से अपरिचित हो और पढ़े-लिखे लोगों की भाषा लिख-बोल न सकता हो, परन्तु माता के दूध के साथ ही यह विचार उसमें प्रविष्ट हुए थे और उसके अन्तःकरण में ओतप्रोत हो गये हैं। लोकगीत, लोक-नृत्य, त्योहार सभी को ध्यान से देखिए, इन विचारों की झलक देख पड़ेगी।

शहर के रहने वाले के जीवन में कृत्रिमता और जटिलता अधिक होती है। नागरिक अपने लिए नयी-नयी समस्याएँ पैदा करता रहता है और उनके सुलझाने के लिये प्रकृति से लड़ता रहता है। नागरिक जीवन, आज की विशाल उद्योग-मूला सभ्यता पदे-पदे प्रकृति पर मनुष्य के विजय का संदेश देती है। कृत्रिम जीवन में मनुष्य को अपनी सहज प्रवृत्तियों को दबाने का अभ्यास करना पड़ता है, अपने उत्कर्ष के लिए उसको दूसरों के अपकर्ष की बात सोचनी पड़ती है। वह अपने बनाये हुए यंत्रों का गुलाम बन जाता है। सोचने का अवकाश नहीं मिलता और यदि कभी मिलता है तो अपनी अदम्य महत्वाकांक्षा, अपनी सीमित शक्तियों और कदम-कदम पर मिलने वाली ठोकरों को सोच कर ऐसी घबराहट होती है कि आज का मनुष्य या तो किसी न किसी प्रकार के वायुविकार 'नर्वस डिजार्डर' का शिकार बन जाता है या मनोरंजन के ऐसे साधनों को ढूँढ़ता है जिनसे कुछ क्षणों के लिये ग़म गलत हो जाता है, चाहे पीछे परिणाम कुछ भी हो। जैसा कि एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है—'आज का मनुष्य अपनी नंगी आत्मा के सामने आने से घबराता है, उसको देखना नहीं चाहता।'

देहात की समस्याएँ अपेक्षतया सहल होती हैं। मनुष्य प्रकृति के अधिक निकट होता है और उसके जीवन में प्रकृति के ऊपर विजय पाने वाली बात कम ही होती है। लहलहाती खेती खड़ी है, पत्थर पड़ जायँ, एक वृष्टि न हो, थोड़ी-सी अधिक वृष्टि हो जाय और महीनों का परिश्रम कुछ ही काल में मिट्टी में मिल जाता है। उसको अपनी सहज प्रवृत्तियों को दबाने की आवश्यकता नहीं। ग्रामीण सब दोषों से मुक्त महात्मा नहीं होता, राग-द्वेष उसमें भी होता है, परन्तु राग-द्वेष की भावना होते हुए भी अपना उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष करने का अवसर कम होता है। इसलिए उसका हृदय अपने को पद्य, गान और नृत्य में अधिक सच्चाई के साथ व्यक्त करता है। एक और बात है। नागर वाङ्मय अपने को बहुत-सी मर्यादाओं में बाँध देता है जो कृत्रिमता की सीमा तक चली जाती हैं। कोई बिरला ही कलाकार होता है जो ऐसी सीमाओं का उल्लंघन करता है। रामचन्द्र जी के जीवन को लीजिए। उनके कई ऐसे काम हैं जिनका साधारणतः समर्थन करना कठिन है। यह कह देने से कि वह अवतारी पुरुष थे, विरोधी का मुँह तो बन्द किया जा सकता है परन्तु शंका दूर नहीं होती। राम ने छल से बालि को मारा, भ्रातृ-द्रोही, देशद्रोही और दुष्टप्रकृति विभीषण को अपनाया और परम साध्वी सीता को घर से निकाल दिया। जो महाकवि हो गये हैं वह इन बातों की चर्चा नहीं करते, राम को अवतार मान लेने से उनको छुट्टी मिल जाती है और कड़वी बात कहने से बच जाते हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ भवभूति ही संस्कृत के ऐसे कवि हैं जिन्हों ने 'उत्तर रामचरित' में राम की निन्दा की है। परन्तु लोकबुद्धि ने राम के इन दोषों को पकड़ा। राम की पूजा करते हुए, उनको अवतारी पुरुष मानते हुए भी उसने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनकी भर्त्सना की। विभीषण का राम ने जो आदर किया उसी का उत्तर लोकबुद्धि ने इस प्रकार दिया कि आज भी विभीषण शब्द घर से द्रोही और धोखेबाज के लिए व्यवहार में आता है। बाल्मीकि और तुलसीदास की सीता ने भले ही भारतीय नारी के कवि-

समय-निर्मित आदर्श का पालन करके कुछ न कहा हो, परन्तु लोकबुद्धि को सीता के साथ जो आचरण हुआ वह अच्छा नहीं लगा। उसको उस ठेस का अनुभव है जो सीता के हृदय को लगी होगी।

वन में सीता को पुत्र होते हैं। वह नाई के हाथ अयोध्या सन्देश भेजती हैं। नाई से कहती हैं कि तुम दशरथ, कौसल्या और लक्ष्मण को रोचना के द्वारा सूचना देना, राम का नाम नहीं लेतीं।

पहिले दिह्यो राजा दसरथ, दूसरे कौसल्या रानी।
तिसर रोचना लछुमन देवरा, पै पियै न जनायऊ॥

लक्ष्मण उनको अयोध्या लौटने के लिए मनाने आते हैं तो कहती हैं—

जाव लछन घर अपने, त हम नाहीं जाबै।
जौ रे जियैं नन्दलाल, तौ उनहीं के बजिहैं॥

—यदि लड़के जी जायँगे तो राम के ही कहलायेंगे, राम की तो ख्याति हो ही जायगी, वह नाम-यश के भूखे हैं। मैं अयोध्या जाकर क्या करूँगी?

इन शब्दों में प्रत्येक स्त्री का हृदय स्पन्दित हो रहा है और नारी के विरुद्ध पुरुष का जो निर्मम आचरण होता है उसकी निन्दा फूट रही है।

ऐसा माना जाता है कि लोक-संस्कृति के मूल में 'मिथ्स' हुआ करते हैं। मैं 'मिथ्' का ठीक हिन्दी अनुवाद नहीं जानता। सम्भवतः पौराणिक कथा से कुछ काम चल सकता हो। परन्तु कथा भी कई प्रकार की होती हैं। एक तो वह कथाएँ हैं जिनका सम्बन्ध उन समाजों और उन संस्कृतियों से है जिनका आज लोप हो गया है। मिस्र देश की पौराणिक कथाएँ इसका उदाहरण हैं। दूसरी वह कथाएँ हैं जो आज भी प्रचलित हैं। इन कथाओं की एक विशेषता होती है। निश्चय ही इनका आधार कोई ऐसी घटना होती है जो कभी प्राचीन काल में घटित हुई मानी जाती है। परन्तु जब वह लोक-संस्कृति में अवतरित होती है तो अपने पुरानेपन के साथ नूतन आवरण अपना लेती है। वह लोगों के दैनिक जीवन के किसी पहलू का प्रतीक बन जाती है। इसलिए वह जीवित घटना बन जाती है, ऐसी घटना जिसका काल अतीत नहीं, वर्तमान है। उदाहरण के लिए हमारे यहाँ गाँव-गाँव में भागवत की कथा होती है, नवरात्रि में दुर्गा का पाठ होता है, कपिल और देवहूति के आख्यान, ध्रुव का आख्यान, दुर्गा का शुम्भ-निशुम्भ से युद्ध—यह सब कथाएँ अतीत से सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु राम-सीता का जीवन, श्रीकृष्ण का जीवन, शिव-पार्वती का दाम्पत्य-जीवन, त्रिकाल से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ हैं। इनके चारों ओर हजारों कथाएँ जोड़ दी गयी हैं, जो लोगों के वर्तमान काल की ग्रन्थियों और अनुभूतियों को व्यक्त करती हैं। शिव परम योगीश्वर हैं और सती ने सहस्रों वर्षों तक घोर तपश्चर्या की थी। न सब पुरुष योगी हो सकते हैं और न सब स्त्रियाँ तपश्चर्या कर सकती हैं। परन्तु विवाह के बाद शिव-पार्वती का दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुखमय था। वे आज भी देहातों में घूमते रहते हैं और हजारों नर-नारियों के जीवन को सुखी बनाते रहते हैं।

स्वकीया-परकीया के झगड़ों को जाने दीजिए, परन्तु राधा और कृष्ण की कथाओं में से हजारों स्त्रियों और पुरुषों के हृदयों की झंकार सुन पड़ती है। बालकृष्ण की लीलाओं को गाते हुए हर स्त्री के हृदय में वात्सल्य उमड़ आता है। बड़े आदमी अपने सुख की बात सोचते हैं। उनको दूसरों पर क्या बीतती है इसकी क्या चिन्ता ? जिस देश में स्वेच्छाचारी राजा-नवाब रहे हों, जमींदार और तालुकदार रहे हों, वहाँ के लोगों को इस बात का कटु अनुभव होता ही रहता है। यही बात एक लोकगीत में व्यक्त होती है। बालक राम को प्रसन्न करने के लिए एक हिरन मार कर उसी खाल की खंजड़ी बनायी जाती है। बेचारी हिरनी के लाख फरियाद करने पर भी कौसल्या ने उसके पति को प्राणदान देना स्वीकार न किया। अब जब कभी हवा से भी वह खंजड़ी बज उठती है तो विधवा हिरनी पति की याद में व्याकुल हो उठती है। इन शब्दों में छलकते हुए कारुण्य को देखिए और दुर्बल की हाय को सुनिए—

'जाहु हरिनि घर अपने खलरिया नाहि देबई।
हरिनि खलरी क खंझड़ी मढ़उबइ त राम मोर खेलिहंई॥

जब जब बाजै खंझड़िया सबद सुनि अउबई।
हरिनी ठाढ़ि छिउलिया के नीचे हिरन के बिसूरई॥

कभी-कभी लोकगीत हजारों वर्षों के इतिहास की रक्षा करते हैं। आप जानते हैं कि बहुत-से लोगों का ऐसा विश्वास है कि पांडव लोगों का गढ़वाल के क्षेत्र से विशेष सम्बन्ध था। इसके समर्थन में जहाँ और प्रमाण हैं वहाँ एक यह भी है कि आज भी वहाँ का सबसे प्रचलित लोकनृत्य 'पाण्डव नृत्य' कहलाता है। यदि पांडवों का सम्बन्ध इस प्रदेश से रहा होगा तो कौरवों का भी निश्चय ही ऐसा सम्बन्ध रहा होगा। भले ही अधिक लोग पांडवों के पक्षपाती हों, परन्तु कुछ लोग कौरवों के साथ भी रहे ही होंगे। इसके परिणाम-स्वरूप एक रोचक चीज देखने में आती है। गढ़वाल के उस हिस्से में जो हमारी उत्तरी सीमा है, आज भी दुर्योधन की पूजा होती है और वहाँ के लोक-साहित्य में दुर्योधन का यशोगान गाया जाता है। इसी प्रकार उस प्रदेश में बदरीनाथ की मूर्ति के तिब्बत से आकर वहाँ स्थापित होने के सम्बन्ध में जो लोक-विश्वास है उसकी ओर इतिहास-वेत्ताओं को भी ध्यान देना पड़ता है। मैंने उसे स्वयं वहीं की स्त्रियों के मुँह से सुना है और तत्सम्बन्धी नृत्य देखा है।

लोक-संस्कृति वह जीती-जागती चीज है जिसके द्वारा लोक की आत्मा बोलती है। समाज जड़ नहीं है। उसमें परिवर्तन होते रहते हैं, लोक-संस्कृति में भी परिवर्तन होता है। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों के कारण वह परिस्थितियाँ बदल जाती हैं जिनमें पहली संस्कृति पनपती थी। दो उदाहरण लीजिए। मैंने स्वयं अपने लड़कपन में ऐसे गाने सुने हैं जिनमें यह कहा गया है कि किसी स्त्री का भाई उससे मिलने आया है। स्त्री रो-रो कर ससुराल में जो कुछ कष्ट हो रहा है उससे कहती है, इतना आटा पीसना पड़ता है, इतना भोजन बनाना पड़ता है, इत्यादि। और फिर यह कहती है कि यह बात

घर जाकर माता-पिता या भावज से मत कहना। अब यह कहानी प्रायः जाती रही। कारण स्पष्ट है। गाँव-गाँव में आटे की चक्की खड़ी हो गयी हैं। किसी को अब घर में आटा पीसने की आवश्यकता नहीं है। सम्मिलित परिवार टूटते जा रहे हैं। पहले की भाँति रसोई बनाने की आवश्यकता कम होती जा रही है। ज्यों-ज्यों शिक्षा बढ़ेगी त्यों-त्यों दैनिक जीवन में और भी अन्तर पड़ जायगा। शहरों में जो परिवर्तन बड़ी तेजी के साथ हो रहे हैं वह स्पष्टतः देहात के जीवन को भी उसी तेजी के साथ प्रभावित करते जा रहे हैं। सिनेमा और रेडियो का प्रभाव देहाती जीवन पर पड़ रहा है। आये दिन चुनाव होते रहते हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष सभी वोट देते हैं। स्त्रियाँ ग्राम पंचायतों, जिला परिषदों और विधान सभाओं की सदस्या हैं। यह सब बातें बड़े वेग से समाज के जीवन को परिवर्तित कर रही हैं और शहर और देहात के भेद को मिटाती जाती हैं। ऐसी अवस्था में यह असम्भव है कि लोक-संस्कृति एक निश्चल, अपरिवर्तनशील ढंग से बनी रहे। यदि हम सांस्कृतिक कार्यक्रम के नाम पर पुराने गानों और नृत्यों को बराबर प्रश्रय देते गये तो इस प्रकार के प्रोत्साहन में उतनी ही कृत्रिमता आ जायगी जितनी कि भांति-भांति के वस्त्रों और चेहरों को पहिने हुए रामलीला के पात्रों में होती है।

यह दुःख की बात है कि आज का शिक्षित भारतीय, पुरुष या स्त्री, लोक-संस्कृति से दूर चला गया है। वह अपने को ऊँचे सांस्कृतिक स्तर का निवासी मानता है। यह उसका भ्रम है। लोक-संस्कृति में हमारी सहस्रों वर्षों की अनुभूतियाँ सुरक्षित हैं। लोक-गान और नृत्य उन प्रवृत्तियों को व्यक्त होने का अवसर देते हैं जो प्रायः दबी रहती हैं। उनमें निखार की कमी हो, कहीं-कहीं अश्लीलता झलकती हो, परन्तु है वह हृदय से निकली चीज। इसलिए हृदय को स्पर्श करती है। अपनी संस्कृति से दूर हुए मनुष्य की गति डोर-कटे पतङ्ग जैसी हो जाती है। सिर आकाश में रहना अच्छा हो सकता है परन्तु पाँव पृथ्वी पर रहना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि हम इस ओर ध्यान दें। लोक-साहित्य की अछूती उपमाएँ, उसकी स्वभावोक्तियाँ, उसका प्रसाद और माधुर्य चित्त को सहज आकृष्ट करते हैं और रस की वर्षा करते हैं।

लोक-साहित्य किसी एक रस को नहीं अपनाता। शृङ्गार और करुणा का प्राचुर्य है, परन्तु वीर और हास्य की भी कमी नहीं है। आल्हखंड तो वीर रस का प्रसिद्ध भंडार है ही। उत्साह और शौर्य का यह उदाहरण देखिए—

बहिन अपने भाई से कहती है कि 'बिरना हाली हाली जेंवउँ' क्योंकि 'तुरुक लड़इया के ठाढ़'। भाई विजयी होता है तब बहिन कहती है—

बिरना कोखिया बखानउ ममरिया कै,
जेकर पुतवा समर जीत ठाढ़।

और आगे—

बिरना, भगिया बखानों मैं भौजी कै,
जेकर समियाँ समर जीति ठाढ़।

बीकानेर में एक गाना सुना करता था। उसमें बार-बार यह पंक्ति आती है—'थाने प्यारी लागै चाकरी'। गनगौर का दिन है, स्त्री शृङ्गार कर रही है, गौरी-पूजा की तैयारी है। उधर पति को युद्ध पर जाने का आह्वान आया है। शृङ्गार, वीर और करुण का सुन्दर सम्मिश्रण है।

शान्त-रस का तो लोक-साहित्य में भण्डार भरा पड़ा है। रसिया, कजली, बिरहा—इन सब में त्याग, तपस्या, योग, भक्ति, वेदान्त की शिक्षा छलकती है। उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है।

मैं जानता हूँ कि मैंने लोक-संस्कृति के प्रश्न पर किसी प्रकार का कोई प्रकाश नहीं डाला है। परन्तु यह मेरा काम है भी नहीं। इसके लिये तो हम उन विद्वानों की अपेक्षा करते हैं जिन्हों ने इसका हर पहलू से अध्ययन किया है। मैं इस बात के लिए आपको धन्यवाद देता हूँ कि इस अवसर पर आपने मुझे याद किया। मैं आपकी इस योजना की सफलता चाहता हूँ।

मैं बड़े हर्ष से इस उत्सव का श्रीगणेश करता हूँ।

लोक-संस्कृति

भूपेन्द्रनाथ दत्त

मित्रो, देशवासी पुरुषगण तथा महिलावृन्द,[1]

आज का विचारणीय विषय है लोक-संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति के लोकतत्त्व। प्रथमतः हमें देखना चाहिये कि लोक-संस्कृति किसे कहते हैं। प्रागैतिहासिक-काल में लोक सर्वत्र जनों में विभक्त था। अतः जीवन-व्यापार में एकरसता नहीं आ पाई थी। प्रत्येक जन अपनी आर्थिक परिस्थितियों-वश बढ़ रहा था, वह अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिये ही सामान तैयार करता था। इस प्रकार तैयार सामान उस जन का सांस्कृतिक उत्पादन होता था। जन की सभ्यता इन सांस्कृतिक उत्पादनों से मूर्त होती है। इस प्रकार लोक संस्कृति जन्म लेती है।

परन्तु नृवंशीय वर्गों के निर्माण प्रक्रम में जन मिश्रित होते हैं और एक महती प्रजा का अस्तित्व प्रकट होता है। प्रजा मिश्रित जनों की सम्पूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियों की दावेदार होती है। फलतः हम लोकसांस्कृतिक उपलब्धियों को सभ्यता के आधुनिकतम उपादानों से हीन लोक को समाज के निम्न स्तरों में संजोये पाते हैं। ये ग्राम्य जीवन में अधिक स्पष्ट होती हैं और अपरिचित को अजीब-सी लगती हैं। योरपीय देशों में प्राचीन परम्पराओं के साथ ही ये अधिक स्पष्ट दिखती हैं। इन देशों में लोक-कला, लोक-वेश-भूषा, और लोक-व्यवहार नागर-सभ्यता से नितान्त भिन्न हैं। फलस्वरूप वहाँ नागर और ग्राम्य सांस्कृतिक उपादानों में अन्तर है।

पर ये चीजें अब योरप में भूतकालिक हो गई हैं। नागर योरप गत कुछेक शताब्दियों से समस्त पाश्चात्य देशों में भूषा और व्यवहार सम्बन्धी एकरसता लाने को प्रयत्नशील है। ईसाई धर्म युद्धों के पूर्व पर-प्रभाव के फलस्वरूप अनेक सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ-साथ पूर्वी भूषा भी पाश्चात्य देशों में आई। ट्राउज़र्स, ब्लूमर्स, फ्रॉककोट, वेस्ट (सदरी) योरप में यही लौटने वाले धर्म योद्धा लाये थे। और ये पश्चिमी योरप के तमाम अभिजात वर्ग में प्रचलित हो गये। पर ग्रामीण प्रजा ने अपने लाल बॉबेट जैकेट

१, अध्यक्षीय भाषण।

और स्कर्ट को नहीं त्यागा। इस प्रकार बूर्जूआ कहे गये नागर जनों और ग्राम्य समाज की संस्कृति और भूषा में अन्तर का सूत्रपात हुआ।

पर फ्रान्स की बड़ी क्रान्ति ने अपने जनतन्त्रवाद के नारे से इस बढ़ते हुए अन्तर को रोक दिया। प्रोलेतारिअत् (श्रमिक वर्ग) की भूषा, जिसे 'सांस्कूलोत' कहा जाता था, प्रचलित हुई। इस प्रकार अभिजात भूषा की समाप्ति होकर, सादी भूषा जिसे आगे 'नागर वेष' कहा जाने लगा, प्रचलित हुई। और यही 'नागर वेष' काल-क्रम से (सारे योरप और अमेरिका) के मध्यवर्ग की अपनी भूषा हुई। अन्ततः, यही एशिया और अफ्रीका में भी अपनाई जा रही है।

इसी प्रकार पाषाण-युगीन स्पेन के शिलाचित्रों का स्थान धीरे-धीरे शास्त्रीय कला लेने लगी। योरप का संस्कृति पुरुष धीरे-धीरे सभ्यता के उच्चतर स्तरों को छूने का प्रयत्न करने लगा। यूनान के मिसेइयन् युगीन विशाल स्मारकों के स्थान पर पेरिक्लीज के युग में प्रोक्सालाइटीज़ और फिडियस के ललित शिल्प का विकास हुआ। इस प्रकार जन राज्यों के राष्ट्र रूप में विकासित होने से योरपीय लोक-संस्कृति में विशिष्ट प्रगति हुई और पूर्वकालिक सांस्कृतिक उत्पादनों के स्थान पर शनैः-शनैः नवीन माध्यमों का उदय हुआ। इस प्रकार हम शास्त्रीय सांस्कृतिक योरप को एक नवीन शक्ति और उत्साह से खिलता हुआ पाते हैं।

कुछ साम्राज्यवादी पाश्चात्य देशों के औपनिवेशिक साम्राज्यों के उदय के समय से ही साम्राज्यवादी लेखकों में 'प्रजाति' (रेस) की सभ्यता का निर्णायक तत्व मानने का रवाज चल पड़ा है। अपने औपनिवेशिक शोषण के छद्मच्छद के रूप वे में वे 'उच्च', 'निम्न' जातियों अथवा 'नार्जिक शासक प्रजाति' का प्रयोग करने लगे हैं। परन्तु एक अनभिनत नृतत्वज्ञ और ऐतिहासिक भिन्न प्रमाण देगा। उसके अनुसार प्रजा का निर्माण विभिन्न प्रजातीय तत्वों के सम्मिश्रण से होता है। नृतत्त्व और पुरातत्त्व शास्त्र की आधुनिकतम शोध है कि लम्बी और चौड़ी आकृति-अस्थियों वाला नृवंश योरप में उतरते पाषाण युग से ही रह रहा है। अतः विशिष्ट आकृति-अस्थि किसी विशेष रीति, जातीय व्यवहार अथवा विचार की प्रसारक नहीं मानी जा सकती। किसी विशेष नासिकाग्र में किसी सांस्कृतिक तत्त्व का स्वत्वाधिकार नहीं होता। नृतत्त्व-दर्शन रहस्य (वाद) को साम्राज्यवादियों ने अपने निर्दय शोषण को ढकने के लिये प्रश्रय दिया। इसलिये, उन्हों ने 'समशीतोष्ण प्रदेश का अधिकार' 'गोरी जाति का उत्तरदायित्व' जैसी अन्य स्थापनायें कीं। यह क्रूर भाग्य ही है कि ऐसे भ्रामक अवैज्ञानिक कुविचार हमारे स्कूलों और कालेजों में वैज्ञानिक तथ्य मानकर पढ़ाये जा रहे हैं और हमने उन्हें पढ़कर गौरवान्वित अनुभव किया है। यह आश्चर्य ही है कि हमारे कुछ चोटी के विद्वान अब भी उन्हीं साम्राज्यवादी नारों को वैज्ञानिक तथ्य मानते हैं।

मानव शरीर में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। उसमें मनस्तत्त्व ही प्रमुख वस्तु है। वातावरण ही जाति का निर्माण करता है। पुनः शैक्षिक ढाँचे का राष्ट्र के निर्माण में महत्वपूर्ण योग होता है। हम किसी जाति की सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन कर दें,

उसके जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बदल दें, और जाति बदल जाती है। इतिहास इस सत्य की पुष्टि करता है।

अन्ततः, इन साम्राज्यवादी उद्भावनाओं को समाप्त करने के लिये 'यूनेस्को' ने घोषित किया है कि 'प्रजाति' (रेस) जैसी कोई चीज नहीं है, वरन केवल नृवंशीय वर्ग हैं। अभाग्यवश, हमारे पूर्वकालिक अमित्र शासकों ने भारतीय संस्कृति की अपने भ्रामक अवैज्ञानिक दृष्टिकोण से व्याख्या की, और हमने भी अज्ञानवश उन्हें परम सत्य मान लिया है। हमारे कुछ देशवासी अब भी प्रमादवश उनकी अमान्य लय पर नृत्यमान हैं।

इस प्राग्वचन के अनन्तर हम भारत की ओर देखें। अब हम अपने बाबुलीय-बन्धन से मुक्त हैं और तथ्यों को उनके समुचित परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। यह सत्य है कि भारत अब भी जातीय दृष्टि से एक नहीं है, पर हम सांस्कृतिक दृष्टि से एक हैं। यह सत्य है कि वैदिक संस्कृति हमें अज्ञात भूतकाल से अनुप्राणित करती रही है। यह भी सत्य है कि बौद्धधर्म के जनव्यापी प्रभाव के अनन्तर, कुमारिल और जैमिनि के अथक प्रयत्नों के बावजूद भी, वैदिक धर्म पुनरुज्जीवित न किया जा सका। पर वैदिक धर्म की छद्मछाया में वाकाटक-गुप्त काल में एक नव्य ब्राह्मणधर्म का पुनरुदय हुआ। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि वैदिक धर्म एक विशिष्ट जनपरक धर्म था। यह वैदिक भाषा में आर्य कहे गये एक विशिष्ट कृषक नृवंश का नृवंशीय धर्म और समप्रसारी संस्कृति थी। नव्य ब्राह्मण धर्म वैदिक धर्म के दायाधिकारी के रूप में नृवंशीय धर्म और संस्कृति हो रहा। अतः इसे 'नृतात्त्विक धर्म' कहा जाता है। आर्य जन के राष्ट्रवाद से उद्भूत होने के कारण यह अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धधर्म का अकरुण विरोधी रहा। इसी कारण इससे भारत को आधुनिक अर्थों में जातीय दृष्टिकोण से 'एक राष्ट्र' बनने में सहायता न मिली। इसका निषेध स्वतः ब्राह्मण धर्म में मिलता है। याज्ञवल्क्य और अन्य ब्राह्मण स्मृतियाँ स्पष्ट रूप से राजा को प्रजा के रीति-रवाजों में हस्तक्षेप करने का निषेध करती हैं। शुक्रनीति सार भी व्यवहार के लिये गणाधिकरण, जात्याधिकरण, और राज्याधिकरण का उल्लेख करता है। इस प्रकार भारत में नृवंशीय समिश्रण के लिये कोई क्षेत्र न था। फलस्वरूप हम देखते हैं कि उच्चवर्णों के हिन्दुओं में, जो अभी कल तक याज्ञवल्क्य (मिताक्षरा) और मनु (दायभाग) के नियमों से शासित थे, ब्राह्मण धर्म ने आर्यत्व के रूप में सांस्कृतिक ऐक्य उत्पन्न किया था। यहाँ स्मरण रहना चाहिये कि 'आर्य' प्रजातिवाचक नहीं है। यह एक धर्म एवं संस्कृति का पारिभाषिक शब्द है। सारे भारतीय आर्य हैं, चाहे वे भाषा में हों, या धर्म में।

इन ऐतिहासिक तथ्यों से हमें ज्ञात होता है कि भारत में विभिन्न नृवंशीय वर्ग रहते आये हैं। उनकी अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक उपलब्धियाँ, रीतिरवाज, कला, संगीत, और बोली हैं। इन्हें ही समष्टि रूप में किसी भी वर्ग की 'लोक-संस्कृति' कहा जाता है। स्वभावतः पाश्चात्य देशों की ही तरह ये संस्कृतियाँ निम्न वर्गों की हैं। उच्चस्तरीय अधिकारी वर्गों की नहीं हैं। भारतीय भाषा में, ये आर्य 'मार्ग' नहीं हैं।

इस प्रकार वे सांस्कृतिक उपलब्धियाँ जो उच्च वर्ग अद्यावधि नहीं आत्मसात् कर सके हैं 'देशी' कही जाती हैं अथवा विशिष्ट वर्गों की अपनी।

पहले, आर्यत्व का बेलना चलने के पूर्व, प्रत्येक नृवंश की अपनी विशिष्ट कला थी, संगीत था और थे रीतिरवाज। पर आर्यत्व ने धीरे-धीरे विभिन्न वर्गों की संस्कृतियों को अपनाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार जनपदीय राग जैसे गान्धार, कर्नाट, बंगाल (परवर्ती गौड़ी) आदि 'मार्ग राग' में स्वीकृत हुये। आद्य लोक-धुनों को उच्च वर्गों के शास्त्रीय संगीत में स्थान मिला। वास्तव में अब भी कुछ लोक धुनें बच गई हैं, जैसे सौताली, और हिमालय की पार्वती धुनें। फिर भी, तुर्कों के आक्रमण से बहुत पहले ही टोडी और खम्माज जैसी तुर्की ग्राम्य धुनें भारतीय संगीत में स्थान पा चुकी थीं। ईसा की तेरहवीं शताब्दी में सारंग देव रचित 'संगीत रत्नाकर' ग्रन्थ में 'शक' धुन के अपनाये जाने का उल्लेख है। लोक-रीतियों के लिये, स्मृतियों में कुलाचार, और देशाचार के अविरुद्ध कर्मों का आदेश है। इस प्रकार, भारतीय समाजशास्त्र में सांस्कृतिक तत्वों का स्वीकरण हुआ है। इसी कारण कुछ अबूझ रीतियों का जन्म हुआ जो विदेशी दृष्टि के लिये पहेलियाँ बनी हुई हैं। परन्तु भारतीय कलाकारों के सामुद्रिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट नियमों का ही पालन करने के कारण लोक कला को शास्त्रीय कला में स्थान नहीं मिल पाया।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हमें आदिम जातियों की लोककला के प्रतिनिधि माने जाने वाले कैमूर की पहाड़ियों के अंकनों के स्थान पर मध्ययुग के भास्कर्य और चित्रकला के लिये शृङ्खला स्वरूप सिंध घाटी-सभ्यता की कला उपलब्ध है। कैमूर की पहाड़ियों और सिंध घाटी से गुप्त एवं परवर्ती कला तक अत्यधिक अन्तराल आ पड़ा है। भारत के संस्कृत मानव ने लोक-संस्कृति से लगा कर हिन्दू भारत के मध्ययुग की भारतीय आर्य-संस्कृति के चरम तक अबाध गति से उन्नति की है।

तदनन्तर भारतीय इतिहास का नवीन पृष्ठ खुलता है। तुर्कों द्वारा उत्तर भारत की विजय से एक नई संस्कृति के अद्यावधि अज्ञात तत्त्वों का सूत्रपात होता है। अमीर खुसरो ने मार्ग धुनों में फारसी मकम्स का प्रचलन किया। कलाकारों ने ललित कलाओं में नये प्रयोग किये। फलस्वरूप, चित्र एवं वास्तुकला में एक विशिष्ट शैली का प्रादुर्भाव हुआ जो तथाकथित मुगल और राजपूतों की शैली के चित्रों से स्पष्ट है। पर किसी भी प्रकार इन्हें 'लोक-कला' नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर, उत्तर भारत में, हिन्दू और मुसलमान वास्तु का मिश्रित रूप निरव से लगता है। बंगाल में, भारतीय वास्तु के इतिहासकार श्री पर्सी ब्राउन का कथन है—'अधिकृत ने अधिकारी को निरधिकृत किया' अर्थात् हिन्दू शैली ने इस्लामी संस्कृति की शुद्ध विदेशी संस्कृति को अपदस्थ किया। इसका सबसे सफल उदाहरण महाराज जदु, जिनका द्वितीय नाम सुल्तान जलालुद्दीन था, का मकबरा और पन्डुआ की मस्जिद हैं। श्री ब्राउन के अनुसार यह शैली बंगाली मुसलमानों की मस्जिदों में सामान्यतया प्रयुक्त हुई है।

इस समन्वय के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण सहसराम में शेरशाह का मकबरा और आगरा का ताजमहल हैं। कलाकार हैवेल के मत में यह हिन्दू बौद्ध कला का सांस्कृतिक आवश्यकता अनुसार इस्लामीकरण है। दोनों मकबरे हिन्दू पंचरत्न शैली में बने हैं। मुसलमानी कला में कहीं भी ऐसी वास्तु शैली नहीं पाई जाती है। यह भारतीय कला का आवश्यकतानुसार मुसलमानी संस्करण हैं। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि मुगल शासनकाल में हुआ सांस्कृतिक समन्वय अब भी चल रहा है। समन्वय रूढ़ हो गया है और मार्ग वर्ग का परवर्ती रूप है।

पर लोककला और तदनुसारी संस्कृति के संबंध में! हमें कहना चाहिए कि समन्वय आर्य वर्ग का विलम्बित रूप है। विभिन्न नृवंशीय लोक-संस्कृतियों को शास्त्रीय या मुगलकालीन संस्कृति में स्थान नहीं मिला। शास्त्रीय संस्कृति ने मुसलमानी काल में हुए कुछेक परिवर्धनों और परिवर्तनों के अलावा पिष्टपेषित मार्ग का ही अनुगमन किया है।

पर किन्हीं निर्णयों पर पहुँचने के पूर्व हमें भारतीय आर्य संस्कृति का स्वरूप समझना आवश्यक है। आरम्भ में यह एक नृवंशीय संस्कृति थी। पर वैदिक काल से ही विदेशी सांस्कृतिक आदानों के प्रबल प्रमाण हैं। जब तक भारतीय आर्य शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से सबल रहे, बाहरी सांस्कृतिक आदान-प्रदानों का निषेध नहीं रहा। पर परवर्ती मध्ययुग में पुरोहिती की महत्व-वृद्धि के साथ स्मृतियों ने विदेशी भाषाओं के अध्ययन पर रोक लगा दी। लोक एकान्तिक बन्धनों में पड़ गया। बौद्धिक रूप से भारत का बाहरी जगत से सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया था। जैसा कि सातवीं शताब्दी में कुमारिल के इस कथन से स्पष्ट है कि वैदिक आदेशों के अलावा कुछ भी मान्य नहीं। इस प्रकार भारत ने बौद्धिक संकोच एवं एकान्तिकता की चिर-प्राचीन प्रणाली का अनुसरण किया। सम्भवतः यह बौद्ध अन्तर्राष्ट्रीयता का अपेक्षित परिणाम था। कुछ भी हो, भारतीय मानस की धारा सूख गई थी और उसकी गतिशीलता नष्ट हो गई। तब भी मध्ययुगीन धर्मग्रन्थों में चाहे जो लिखा हो और पुरोहितों ने चाहे जिसका प्रतिषेध किया हो, पुरोहितवाद प्रकृति के नियम को नहीं रोक सका। भारतीय आर्यत्व, इसे चाहे ब्राह्मण धर्म कहें चाहे हिन्दू धर्म, सदा से विदेशी सांस्कृतिक एवं नृवंशीय तत्वों को आत्मसात करता रहा है। भारतीय समाज, स्थानीय नृवंशों को मिलाते और आत्मसात करते हुए अपने ही मार्ग पर चलता रहा है। चातुर्वर्ण्य अब भी वर्धमान है। यद्यपि रूढ़िवादियों को अन्त्यजों के मिलाने में आपत्ति रही है, सुधारवादी सन्त-आन्दोलनों ने स्थानीय आदिमवासियों और निम्न वर्गों को हिन्दुत्व के आंचल में समेटा है। यह पीर पूजा, पञ्चपीर पूजा, बानबीबी पूजा, जैसी पशुप्रतीक पूजा और विदेशी रीतियों को आत्मसात करता रहा है। इसीलिये अडोलस हक्सले हिन्दू धर्म को ठीक ही 'स्रोत धर्म' मानते हैं। हिन्दू धर्म में पशुपूजा से बहुदेववाद और एक देववाद तक सभी चीजें सँजोयी हुई हैं। पुरोहित वर्ग, शुतुरमुर्गी नीति का पालन कर रहा है, पर आज हमारे स्वतंत्र होने के बाद, भारतीय समाज शीघ्रता से बदल रहा है।

पर कठिनाई यह है कि पिछड़े वर्गों की संस्कृति ब्राह्मण धर्म द्वारा प्रश्रय न पाने पर 'मार्ग' पद्धति में नहीं आ पाती है। इस प्रकार 'देश वाली महिजुस' (वांकुरा के संथाल) प्रतीकात्मक गोत्र अपना रहे हैं और एक गुरू उन्हें सभ्यता के उच्च स्तरों पर ला रहा है। यह दशा सिंह भूमि के 'खरिया' लोगों की है जिनका प्रतीक शुक, शांडिल्य ऋषि बन गया है। इसी प्रकार सिंह भूमि के 'हो' (कोल) लोगों को विवाह, श्राद्धादिक अवसरों पर पुरोहित की आवश्यकता पड़ती है और वे काली की पूजा करते हैं। पर इन लोगों का कहना है कि जनगणना विवरण में इन्हें हिन्दू कहने में राजनीतिक कठिनाई पड़ी थी। पर यह विदेशी साम्राज्यवाद के युग की बात है 'जब भेद नीति और शासन' का बोलबाला था। इसी प्रकार पश्चिमांचल के लोगों को सतनामी परिवर्तित का क्षत्रिय मान रहे हैं।

महत्व का प्रश्न है कि क्या हम इन नृवंशीय वर्गों को भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा से अलग रखेंगे ? क्या हम इन्हें उत्तरी अमरीका के आदिमवासियों की तरह, शासन द्वारा निर्दिष्ट प्रदेशों में अलग रख कर सड़ायेंगे ! क्या हम इन्हें आदिम जाति का कह कर घृणा से नाक सिकोड़ेंगे ?

विदेशी साम्राज्यवादी शासन की इन्हें आदिम जाति घोषित कर इतरदेशीय शोधकों के लिये, सामग्री प्रस्तुत करने की नीति रही है (नृतत्व और समाजशास्त्रीय अध्ययन)। इन्हें राजनीतिक कारणों से अलग रखा गया है, पर मुसलमान और ईसाई बन जाने पर इनका अस्तित्व स्वीकृत हुआ है। पर इन परिवर्तनों के बाद उनकी आदिम संस्कृति का कोई बहाना नहीं माना गया। मुसलमान प्रचारक उनपर इस्लामी संस्कृति का आरोप करते हैं, ईसाई प्रचारक उन्हें पाश्चात्य संस्कृति में रंग देता है। चतुर्दिक फैले समाज में न मिलने देने के लिये उनकी बोलियों की लिपि रोमन कर दी गई है आदि। इस तरह समस्त भारत में राष्ट्रविरोधी केन्द्र स्थापित हुए हैं जो राष्ट्रीय सरकार के लिये सिर दर्द सिद्ध हो रहे हैं। फिर भी, हम भारत को आर्य, द्रविड़, प्राग्द्रविड़ आदिक अनेकानेक जातियों का सम्मिलन-स्थल मान कर अपने पूर्वकालिक शासकों की धुन पर नृत्यमान हैं। पुनः हम विभिन्न नृवंशीय वर्गों को अलग-अलग विशिष्ट सांस्कृतिक जन मानते हैं।

हम वेद में स्वर्णिम से कृष्ण कांति तक तथा कृष्ण बालों के उल्लेख से, और सिन्धु घाटी में पाई गई आकृति-अस्थियों से आधुनिक भारत के तद्देशीय भारतीयों की आकृति-अस्थियों की समानता की ओर देखते ही नहीं। शरीर विज्ञान की दृष्टि से वैदिक मानव के एक ही नृवंश के होने का कोई प्रमाण नहीं है।

नैसर्गिक रूप से एक लोक किन्हीं सांस्कृतिक संस्थाओं का निर्माण करता है, परन्तु इस निर्माण प्रक्रिया में संस्थाओं में उच्चादर्शों का उदय होता है। अतः, सामान्य लोक की सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ स्थिर नहीं होतीं, सीमित नहीं होतीं, वरन् वर्धमान होती हैं। इसलिए हम तथाकथित अन्त्यजों को आदिमवासी क्यों कहें ! वे केवल पिछड़े भारतीय

हैं। यदि अधिक स्पष्ट कहें तो, पिछड़े हिन्दू। यह हमारा कर्त्तव्य है कि उनका उन्नयन कर हम उन्हें अपने समान स्तर पर ले आवें।

भारत का पाषाणकालीन मनुष्य क्रम से विकास करता हुआ आधुनिक संस्कृत भारतीय बना है। इस तथ्य का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। कृपया साम्राज्यवादी नृत्यत्त्वदर्शन की उद्भावनाओं के माध्यम से प्रत्येक सांस्कृतिक उपादान की व्याख्या नई शासक जाति की देन कह कर न करें। स्मरणीय है कि ऋग्वैदिक प्रजा नव्य पाषाण युग और कांस्ययुग की मध्यवर्ती आदिम प्रजा थी। उनके भाण्ड प्रस्तर, काष्ठ एवं ताम्र के थे। वे ताम्रयुग में थे और सिंधुघाटी सभ्यता उनकी समसामयिक थी। प्रत्येक सभ्यता का अपना लोक-तत्त्व होता है। लोक-संस्कृतियाँ ही समय पाकर 'मार्ग' या शास्त्रीय संस्कृतियों के रूप में विकसित होती हैं। यही भारतीय संस्कृति के साथ हुआ है जैसा कि हमने अभी हाल में देखा। आज हमारा कर्तव्य विभिन्न जातियों के लोक सांस्कृतीय तत्त्वों को आत्मसात कर भारतीय संस्कृति को एक नया मानदण्ड देना है।

वस्तुतः बहुत-से लोक सांस्कृतीय तत्त्वों को बौद्धों और ब्राह्मणों के सुधारवाद ने मिटा दिया है। अशोक के शिला लेख भी इसी का समर्थन करते हैं। अथर्ववेद और ऋग्वेद में उल्लिखित रूप लस वृक्ष के नीचे युवक-युवतियों के द्रुत पदक्षेप से धूल उड़ाते हुए सह नृत्यों को निश्चय ही अभिभावकों की स्वीकृति न मिली होगी। महाभारत में शल्य के प्रति कर्ण द्वारा, स्त्री-पुरुषों के सहनृत्य की निन्दा सर्वविदित है। फलतः जैसा कि प्राचीन साहित्य से प्रमाणित है, नृत्य, संगीत और ललित कलानुराग विशिष्ट वर्गों का व्यवसाय मात्र बनकर रह गया। मध्ययुग से लोक-संस्कृति नागर समाज से बहिष्कृत हो गई थी। नृत्य liyadere अथवा बैजी नाच मात्र रह गया और liallet समाज के बाहर की वस्तु। चित्रकला रेखांकन रह गई, यद्यपि इसका उल्लेख पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों के बंगाली साहित्य में मिलता है। लोक-कला का यह अंश बंगाल के शुभ अवसरों पर प्रयुक्त अल्पना में ही सुरक्षित बचा है।

आज, भूतकालिक शुद्धतावादी प्रवृत्तियों के कारण ही नागर संस्कृति के रूप में नृत्य समाज से बहिष्कृत है। पर लोक-संस्कृतीय तत्त्व के रूप में बैलेट दक्षिण के कथाकलि, गुजरात के गर्बी, मनीपुर के मनीपुरी, संथाल और हो लोगों के सहनृत्यों जैसे समाज के Perilerevies में दिखाई देता है। इन जनों में जो ईसाई हो जाते हैं उन्हें अपनी जातीय-संस्कृति को अधार्मिक मान कर त्यागना पड़ता है।

स्वतंत्र भारत का प्रमुख प्रश्न है क्या ? हम एकान्तिक राष्ट्र के रूप में विकसित होंगे या विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों के समूह मात्र रहेंगे ? तथाकथित नृवंश जो अद्यावधि आत्मसात नहीं हुए हैं, हमारे लिये कोई अपरिचित वस्तु नहीं हैं। भारतीय इतिहास हमें बारंबार बताता है कि वे जन जो किसी एक या अन्य कारण से भारतीय समाज-व्यवस्था से बाहर रहे थे और जिन्हें व्रात्य (अदीक्षित) कहा जाता था, ब्राह्मण समाज में धीरे धीरे व्रात्यस्तोम द्वारा आत्मसात कर लिए गये। इस प्रकार आत्मसात करने का प्रक्रम अबूझे

समय से चलती आ रही है। यह प्रक्रम आज दिन भी राष्ट्रीय शिक्षा के आधार पर राष्ट्रीय सरकार द्वारा चलता रहना चाहिये, किसी धर्म विशेष के प्रचारकों द्वारा नहीं।

लोक-संस्कृति के तत्त्व रूप में बोलियों के सम्बन्ध में हमें भूलना नहीं चाहिए कि ये मात्र स्थानीय बोलियाँ हैं, न कि स्वतंत्र भाषायें, जैसा कि साम्राज्यवादी भाषातत्वज्ञ जार्ज ग्रियर्सन का मत है। सत्य ही, कुछ प्राचीन बोलियाँ विकासक्रम में साहित्य और व्याकरण प्राप्त कर लेने के कारण 'भाषा' का पद प्राप्त कर चुकी हैं। उत्तर में ये भारतीय आर्य प्राकृतों से उपजी हैं और दक्षिण में द्राविड़ प्रजा की संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित भाषा या भाषाओं से। संस्कृत कभी भी जन-भाषा नहीं रही है। यह छन्दस् (वैदिक छन्द) की भाषा की मात्र एक शैली है। उत्तर वैदिक युग से पाणिनि काल तक साहित्यिक भाषा सँवारी गई थी, अतः इसे संस्कृत कहते हैं। अनन्तर, इसकी सज्जा भास से लगा कर भवभूति तक की साहित्य रचना से पूर्ण हुई।

प्राकृत जनों की भाषा भी उन्हीं के नाम पर प्राकृत कहलायी। इसके उत्तरी, मध्य-देशीय, पूर्वी आदि विभिन्न रूप थे। इसके लिये यास्क, पाणिनि और पतञ्जलि साक्षी हैं! अशोक के समय में उसके, सारे लेख मागधी प्राकृत में लिखे गये थे, परन्तु जैनों ने अपने ग्रन्थ प्राकृत में और बौद्धों ने पालि में लिखे। कालान्तर में, प्राकृत अपने 'अबहट्ठ' अपभ्रंश रूप के माध्यम से आधुनिक रूपों में विकसित हुई।

यह स्पष्ट है कि हिन्दू शासकों के शासकीय लेख स्थानीय भाषाओं में या राज-भाषाओं में होते थे। चोल राजा भी अपने लेखों को तमिल के साथ-साथ संस्कृत में लिखाते थे। यही बात चम्पा (आधुनिक वियतनाम) और कम्बुज (आधुनिक कम्बोडिया) के लेखों के विषय में भी सत्य है।

इस उदाहरण के आधार पर आज संस्कृत को राजभाषा या जनभाषा या जन-भाषा बनाने की चर्चा ही व्यर्थ है।

भाषा विकासशील होती है। इसके अंग प्रजा की संस्कृति के विकास से प्रभावित होते हैं। प्रो० मार के मत में जनों के संमिश्रण और अन्तःस्फुरणों से भाषा के गठन और आयाम में वृद्धि होती है। अतः मिनर्वा के समान भाषा पूर्णरूपेण विकसित होकर नहीं जन्मती।

आज की बोलियाँ ऊर्ध्वविकास की तलछट हैं, अतः वे हमारे राष्ट्रीय जीवन में लोक-सांस्कृतिक तत्त्वों के रूप में नहीं ग्रहण की जा सकतीं। संक्षेप में, भारत के सांस्कृतिक विकास-क्रम में बची हुई ये तलछटें स्वतन्त्र इकाइयाँ नहीं मानी जा सकतीं। हम भारत को टुकड़ों में नहीं बाँट सकते। यहाँ स्मरण रहे कि किंग्ज इंग्लिश अंग्रेजों की जन भाषा नहीं है। इङ्गलैंड में भी कई अवान्तर भाषायें और असंख्य बोलियाँ हैं। यही हाल फ्रान्स, जर्मनी, इटली, स्पेन और रूस का है। राज भाषा, जो इन देशों की साहित्यिक भाषा है, कई शताब्दियों के विकास के बाद ही सर्वव्यापी बनी है।

अवान्तर भाषाओं और अन्य लोक-सांस्कृतिक तत्त्वों के अन्तर के बारे में हमें सोवियत रूस, सोवियत एशिया और जनवादी चीन में हो रहे नवीन प्रयोगों की तरफ भी ध्यान देना चाहिये। हमें सारे देश में एकाएक एक विशिष्ट भाषा लादने की जल्दी नहीं करनी चाहिये। यह विधान के अधीन न होकर, विकास की अपेक्षा करता है। जर्मनी में, हाई जर्मन के राज्य और साहित्यिक भाषा होने पर भी, स्थानीय अवान्तर भाषाओं का अस्तित्व है। फ्रान्स का भी यही हाल है, जहाँ पश्चिमी ब्रिटेनी में ग्राम्य जन सिमरिक बोलते हैं, और दक्षिण के घरों में बास्क बोली का प्रयोग होता है।

भाषा और लोक-संस्कृति के तत्त्वों के विषय में हमें लेनिन की राय माननी चाहिये। उससे कहा था : 'जनता को अपनी लोक-भाषा के माध्यम से उन्नत होने दो और उन्हें राष्ट्रीय ढंग से उच्चस्तरीय संस्कृति मिले।' इस प्रक्रम में उक्रेनी क्रीमियन, तातार, उजबेक, कजाकिस्तानी आदि आधुनिक उच्च शिक्षा पा रहे हैं। लेनिन ने फिर कहा था : 'यदि उन्हें रोका जायेगा तब प्रान्तों में राष्ट्रवाद जन्म लेगा और देश में एकता नष्ट हो जायगी।'

अब लोक-संस्कृति के अन्य तत्त्वों पर विचार करें। ये हैं लोक-परम्परायें और लोक-गाथायें। कुछेक के मत में लोक-परम्पराओं का आधार, कुछ सत्य हुआ करता है। समय पाकर सत्य के चतुर्दिक कथायें बढ़ती हैं। लोक-गाथा शास्त्र एकत्र सामिग्री का अध्ययन करता है।

प्राचीन परम्पराओं के रूप में हमें पुराण, महाकाव्य तथा उसी तरह का अन्य साहित्य प्राप्त है जिनसे उनके विकास पर प्रकाश पड़ता है। तब भी यह नहीं मान लेना चाहिये कि आधुनिक समय में परम्पराओं का सम्वर्धन रुक गया है। धार्मिक अथवा राजनीतिक जनप्रिय नेताओं के चारों ओर परम्परायें वर्धमान हैं। भारत जैसे देश में आश्चर्य परम्परायें सर्वदा पनपा करती हैं। वैज्ञानिक शिक्षा सम्पन्न व्यक्ति भी आधिदैविक आधिभौतिक उपादानों में विश्वास करते हैं, बिना अतीन्द्रिय विश्वासों के व्यक्ति की धार्मिक प्रवृत्तियों का समाधान नहीं हो पाता। अतः गुरू की विभूति के विषय में तो परम्परा सदा विकसित हुआ ही करती है।

पर परम्परा-निर्माण की आधुनिक प्रवृत्ति में आश्चर्यजनक रूप से कुछ पश्चिमी प्रभाव स्पष्ट दीखता है। इस प्रकार सर्वदा की तरह, परम्परा लोक के युगीन सांस्कृतिक तत्त्वों का निर्देश करती है।

लोक-गाथा के सम्बन्ध में, भारत में, शोध का क्षेत्र विस्तृत है। लोक-कथायें अपने समय की लोक-संस्कृति की झलक देती हैं। लोक-कथायें और लोक-परम्परायें निश्चय ही शून्य से नहीं उत्पन्न होतीं, उनके सम्मुख प्रतीकों के लिये सामाजिक चित्र रहते हैं। लोक-गाथाओं में उत्पत्तिकालिक भावभूमि चित्रित होती है। इस तरह, पूर्व-बंगगीतिका और ठेठ हमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से अवगत कराते हैं।

'रासो' नाम से ज्ञात लोक-कथायें तुर्की आक्रमण के पूर्व शासक वर्ग का चित्र प्रस्तुत करती हैं। पर तुर्की विजय के पश्चात् पश्चिमी और पूर्वी भक्ति-साहित्य में विजित जाति के मनोभूमि का दर्शन होता है।

इस दृष्टिकोण से, हमारे अतिरिक्त सांस्कृतिक इतिहास के ज्ञानवर्धन के लिये लोक-संस्कृति तत्त्वरूप में मध्ययुगीन और आधुनिक परम्पराओं, गाथाओं, लोक कथाओं तथा काव्य की शोध होनी चाहिये।

जर्मन प्रजा की लोक-संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। इससे लोक-परम्पराओं और लोक-मनोविज्ञान के अध्ययन को बल मिला। परन्तु इस तुलनात्मक अध्ययन, विशेषकर भारतीय लोक-परम्पराओं के अध्ययन के बड़े ही रोमानी ढंग पर चलाये जाने के कारण वैचारिक और राष्ट्रीय अहमन्यताओं का जन्म हुआ है। इन वैचारिक और राष्ट्रीय अहमन्यतापूर्ण अध्ययनों ने लोक-गाथा-शास्त्र को अंधकूप में ला पटका है, जिसका परिणाम आज दिन स्पष्ट है।

इन कारणों से, रोमानी ढङ्ग की तरह देकर, हमें अपनी जातीय विशेषतायें जानने के लिये लोक-संस्कृति की धाराओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना होगा।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि जिसे हम भारतीय आर्य संस्कृति कहते हैं, वह उच्च वर्णों की संस्कृति है। ब्राह्मण धर्मग्रन्थ जनता के विषय में मौन हैं। दूसरी तरफ बौद्ध ग्रंथ हमें तत्कालीन सामाजिक जीवन के तथ्यपूर्ण चित्र देते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि जिन्हें ब्राह्मण-ग्रन्थों में कलि वृद्धि माना गया है, बौद्ध ग्रन्थों में वही जनजीवन का सामान्य पहलू हैं। अतः ब्राह्मण संस्कृति के वर्ग-प्रतिनिधित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस कारण, लोक-संस्कृति के तत्त्व हमें जानपदिक सभ्यता का स्वरूप दिखायेंगे और यह शोध्य है। अतः जब हम अपने सांस्कृतिक जीवन के लोक-तत्त्वों का मूल्यांकन कर लेंगे हमें भारतीय सभ्यता का वास्तविक चित्र प्राप्त होगा।

विचाराधीन परिस्थिति को देखते हुये हमें सोवियत देशों के अनुभवों का अध्ययन करते हुये, लाभ उठाना चाहिये। उन्नीसवीं शताब्दी की ऊबाऊ एकता काम्य नहीं है। भारत में सर्वदा वैभिन्न्य में एकता रही है। भारत को वस्तुतः सांस्कृतिक ऐक्य प्रदान करने के लिये सारे लोक-सांस्कृतिक उपादान हमारी संस्कृति का भाण्डार भरें। वे समय लद गये जब प्रजा का एक ही वर्ग धार्मिक या भाषा के वैशिष्ट्य के कारण ही राष्ट्र रूप में संगठित होता था। आधुनिक भारत में अन्तर एवं बाह्य शोषक वर्गों द्वारा प्रेरित जो कुछ हुआ वह आज दिन प्रजा की विकास सरणि में सामान्य घटना नहीं मानी जा सकती। आज स्वतन्त्र भारत में यह चेतना जगनी चाहिये कि तथाकथित नृवंश हमारे पिछड़े देशबन्धु हैं, लोक-संस्कृति या भूतकालिक विकास प्रक्रम की तलछट हैं। हमारे नये राज्य में एक नई संस्कृति विकसित होनी चाहिये जो हमारी प्रजा के विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों का समन्वय हो। आज की आवश्यकता एक नई सभ्यता की है। हम पुराने विधायकों से शासित नहीं हो सकेंगे। समाज गतिमान है और भारतीय संस्कृति पुनः ऊर्ध्वगामी हुई है। हम पुराने का ही पल्ला पकड़ कर नहीं रह सकेंगे। वरन् हमें भविष्य का निर्माण नये दृष्टिकोण से करना होगा और वह दृष्टि होगी जीवन में विज्ञान का प्रयोग। आज दिन भारत में विज्ञान और अधिक विज्ञान की आवश्यकता है। लोक-

संस्कृति और आर्य संस्कृति का समाधान विज्ञान के दैनिक जीवन में अधिक से अधिक उपयोग में निहित है। जब इस प्रकार अनुप्राणित भारत नई संस्कृति के तत्त्वों का अर्जन करने में सफल होगा तब उनके जीवन में उपयोग से नई सभ्यता का जन्म होगा। यही परम् काम्य है।

इस नई संस्कृति की झलक भारत के देशभक्त तथा द्रष्टा स्वामी विवेकानन्द ने दी है: 'भारत हल पकड़े किसानों की झोपड़ी से, मधुओं, चमारों और भंगियों की झोपड़ी से जन्मेगा। वह किराने की दूकान से और भुरजी के भार के पास से उठेगा। वह कारखानों से, बाजारों से उठेगा। वह आश्रमों से, वनों से, गिरि शिखरों से और पर्वत-मालाओं से जन्म लेगा। भूत के कंकाल तुम्हारे सम्मुख, तुम्हारे उत्तराधिकारी है—भविष्य का भारत।'

इस नये भारत का निर्माण ही हमारा प्रयत्न होना चाहिये। और इस साधना में, साम्राज्यवाद के आर्य, द्राविड़ और आदिमवासी के पुराने नारे धीमे पड़ते-पड़ते मिट जायेंगे और सांस्कृतिक भारतीय पुरुष प्रकट होगा। पूरी गरिमा मे भव्य।

लोकसंस्कृति-शोधसंस्थान

ब्रजमोहन व्यास

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतां आराष्ट्रे राजन्यः इषव्योति व्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुः वोढानड्वान् आशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्योभिवर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् । —अथर्ववेद

क्षीरिण्यः सन्तु गावो भवतु वसुमती सर्वसम्पन्नसस्या
पर्जन्यः कालवर्षी सकलजनमनोनन्दिनो वान्तु वाताः ।
मोदन्तां जन्मभाजः सततमभिमताः ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः
श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः ॥

माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी, डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त जी, विद्वज्जन वृन्द, ललित लोक-कलाकार-मण्डल, बहिनो और भाइयो !

इस सम्मेलन के सञ्चालकों ने मुझे स्वागताध्यक्ष का सम्मान प्रदान करने में भूल की है । इतने विद्वानों के रहते, मुझे यह सम्मान देना कुछ ऐसा असंगत लगता है जैसे 'पत्तने विद्यमाने ग्रामें रत्नपरीक्षा'; नगर के समीप रहते ग्राम में रत्न की परीक्षा कराना । परन्तु 'लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं । श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ।।' सम्मान के प्रार्थी को सम्मान मिले अथवा न मिले परन्तु सम्मान किसी के पास स्वयं जाना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है ?

अस्तु, हम आपका इस प्राचीन एवं ऐतिहासिक नगर प्रयाग में हर्षातिरेक से पुलकित हृदय से स्वागत करते हैं । हम जानते हैं कि आप हमारे नगर में बहुत थोड़े समय तक ठहरेंगे । हम आपके विशेष रूप से आभारी हैं कि अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी सुदूर स्थानों से प्रवास का कष्ट सहते हुए आपने इस वृहत् एवं महत्त्वपूर्ण आयोजन में सम्मिलित होने की कृपा की है ।

यह आभार—

न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा ।
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।

यह आभार कर्ण से व्यक्त नहीं हो सकता, केवल अन्तःकरण द्वारा ही उसका अनुभव हो सकता है।

इस पवित्र नगर प्रयाग का एक लंबा सांस्कृतिक इतिहास है। उसका हमें गौरव है। प्रयाग तीर्थराज है, क्योंकि ब्रह्माजी ने यहाँ सबसे अधिक यज्ञ किये थे। यहाँ प्रत्येक वर्ष माघ मेले के अवसर पर भारतवर्ष के कोने-कोने से लाखों की संख्या में भक्तजन, महात्मा, आ-बाल-वृद्ध, भागीरथी के संगम पर स्नान के हेतु आते हैं और प्रति बारहवें वर्ष महाकुम्भ के अवसर पर और प्रत्येक छठे वर्ष अर्ध-कुम्भ के अवसर पर इन पवित्रात्मा आगन्तुकों का जन-समुदाय वर्णनातीत विस्तृत हो जाता है। इसी गङ्गातट पर प्रत्येक वर्ष महाराज हर्ष-वर्धन आध्यात्मिक प्रेरणा से प्रेरित होकर बड़े समारोह के साथ आते थे और अपना सर्वस्व दान कर देते थे। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस घटना का जो आंखों देखा वर्णन किया है वह सम्राट् हर्षवर्धन की दानशीलता और धर्मपरायणता का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देता है। इसी गङ्गा-यमुना और अदृश्य सरस्वती के सङ्गम के निकट कुलपति महर्षि भरद्वाज का आश्रम था, जहां भगवान रामचन्द्र ने स्वयं पदार्पण किया था। इसी आश्रम में दस सहस्र विद्यार्थी निवास कर विद्याध्ययन करते थे। आपको सुन कर प्रसन्नता होगी कि इसी मंत्रपूत स्थान पर आज प्रयाग का विश्वविद्यालय स्थित है। इस नगर के मण्डल में आज भी अनेक प्राचीन ध्वंसावशेष हैं। पुरूरवा और उर्वशी की प्रणय-लीला की रंग-भूमि के सङ्गम के उस पार झूँसी (प्रतिष्ठानपुर) में है, जिसके ध्वंसावशेष आज भी बिखरे पड़े हैं। प्रयाग से ३२ मील की दूरी पर कौशाम्बी के विराट् ध्वंसावशेष कई मील से दिखलाई पड़ते हैं। आठ वर्षों से प्रयाग विश्वविद्यालय अपने पुरातत्व विभाग के प्राध्यापक पुरातत्ववेत्ता श्री गोवर्धन राय शर्मा की अध्यक्षता और देख-रेख में उत्खनन कर रहा है। यह खनन बड़ा महत्वपूर्ण है। उन्होंने भगवान बुद्ध के घोषितराम को अपनी पैनी दृष्टि से खोद निकाला है। घोषिताराम की स्थिति में पुरातत्व के दिग्गज पण्डितों में जो वादविवाद बहुत दिनों से चला आता था वह सर्वदा के लिये शान्त हो गया। इस साल जो वहाँ खुदाई हुई है उसने तो पुरातत्व के क्षेत्र में एक सनसनी पैदा कर दी है। उदयन के किले के एक प्रवेशद्वार की विशाल प्राचीर के बगल में 'नरमेध' की वेदी का उत्खनन हुआ है। अनेक नरमुण्ड, भिन्न-भिन्न पशुओं की अस्थियाँ, मिट्टी की पकी हुई ईंटों की संख्या यथास्थान रक्खी हुई, सांगोपांग जिस प्रकार शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णित हैं, उत्खनित हुई हैं। हड्डियाँ तो केन्द्रीय सरकार के विशेषज्ञ परीक्षण और अध्ययन के लिये दिल्ली ले गये, पर उन सब का नक्शा, प्रत्येक वस्तु का फोटो, स्तर और स्थान के नक्शे जहाँ वे पाई गई हैं वे सब इस सम्मेलन के दर्शनार्थ विश्वविद्यालय के कौशाम्बी संग्रहालय में क्रमबद्ध प्रदर्शित हैं। यहाँ आये हुए विद्वान् उसे अवश्य देखें। घोषिताराम की भी सम्पूर्ण सामग्री उन्हें वहाँ देखने के लिये उपलब्ध होगी।

सुधीवृन्द ! आज आप लोगों ने अखिल भारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन में उपस्थित होने की कृपा की है। अतः इस सम्मेलन को आमंत्रित करने के उद्देश्य और आवश्यकता पर कुछ प्रकाश डालना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। इस देश में ज्ञान

और विज्ञान के अध्ययन और प्रसार के लिए अनेक सभाओं, सम्मेलनों और परिषदों की स्थापना हुई है। अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, हिस्ट्री कांग्रेस और सायन्स कांग्रेस ऐसी संस्थाएँ, जो अपने-अपने प्रचुर कार्य कर रही हैं। परन्तु यह बड़े दुःख का विषय है कि लोक-संस्कृति—जिसे मैं अंग्रेजी के 'फोकलोर' शब्द का समानार्थक मानता हूँ—के अध्ययन, अनुसन्धान तथा प्रकाशन के लिये अभी तक कोई भी अखिल भारतीय संस्था विद्यमान नहीं थी। यद्यपि भारत के विभिन्न राज्यों एवं जनपदों में अनेक छोटी-छोटी संस्थाओं की स्थापना हुई है, जो लोक-संस्कृति के अध्ययन को अग्रसर करने में प्रवृत्त हैं, परन्तु अखिल भारतीय स्तर पर किसी ऐसी संस्था की प्रतिष्ठा अभी तक नहीं हुई थी जो विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले विद्वानों एवं संस्थाओं में समन्वय (कोआर्डिनेशन) स्थापित कर सकें। इसी अभाव की पूर्ति के लिए एक अखिल भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान (आल इण्डिया फौक कल्चर रिसर्च इन्स्टिट्यूट) की स्थापना का निश्चय किया गया है। परन्तु इसके पूर्व यह उचित समझा गया कि भारत की लोक-कला, लोक-साहित्य एवं लोक संस्कृति के समस्त विद्वानों एवं प्रेमियों का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया जाय तथा इन विद्वानों से सहयोग, सहायता एवं पथप्रदर्शन प्राप्त कर इस शोध-संस्थान को स्थायी और साकार रूप प्रदान किया जाय। आपको प्रयाग में आमन्त्रित करने का हमारा सर्वप्रधान यही उद्देश है कि आप अपने अनुभव, ज्ञान और सक्रिय सहयोग के द्वारा इस संस्था की स्थापना में हमें सहायता प्रदान करें। कलियुग में संघ में ही शक्ति बतलाई गई है—संघे शक्तिः कलौ युगे। अतः आज इस पावन यज्ञ में आहुति देने के लिये मैं आप सभी सज्जनों को निमन्त्रित करता हूँ। हमारा यह पूर्ण विश्वास है कि आपके सहयोग और पथ प्रदर्शन से हम अपने गन्तव्य स्थान तक निश्चित ही पहुँच जायँगे।

सम्भ्रान्त सज्जनो! भारत के इतिहास में यह सम्मेलन अपने ढंग का सबसे पहिला और अनूठा सम्मेलन है। आज यह प्रथम अवसर है जहाँ मानवविज्ञान-वेत्ता (एंथ्रोपालोजिस्ट), समाज-शास्त्र के ज्ञाता (सोशियालाजिस्ट), लोक-संस्कृति के पण्डित (फोक लोरिस्ट) एवं संस्कृत और हिन्दी के विद्वान् एक ही मंच पर समुपस्थित दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण है लोक-संस्कृति की व्यापकता और एक सूचना जो विभिन्न क्षेत्रों में अनुसन्धान करने वाले विद्वानों को एकता के समान सूत्र में बाँधे हुए हैं। इस सम्मेलन से पूर्व इन विविध क्षेत्रों में कार्य करने वाले पण्डितों का एकत्र समारोह कभी नहीं हुआ। इसलिए इस सम्मेलन का विशेष मूल्य एवं महत्त्व है।

जिस अखिल भारतीय लोकसंस्कृति-शोधसंस्थान की स्थापना करने हम जा रहे हैं, उसका संक्षिप्त रूप में उद्देश्य है—लोक साहित्य, लोक-कला, लोक-संगीत, लोक-विश्वास, लोक-प्रथा, लोकाचार तथा लोकोत्सवों का संकलन, संरक्षण एवं प्रकाशन। लोक-संस्कृति से सम्बन्धित जितने भी अवयव या अंग हैं—जैसे रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, रीति-रवाज, व्रत-उत्सव, आचार-विचार, विश्वास-प्रथा, खेल-कूद, शृङ्गार-प्रसाधन—उन

सभी का सांगोपांग अध्ययन प्रकाशित करना इस संस्था का उद्देश्य होगा। जन-जीवन से संबंधित विभिन्न वस्तुओं—वेश-भूषा, आभूषण, चित्र, मृण्मूर्तियों, सिक्के, मनके, खिलौने, औजार, हथियार, हस्तकला आदि—का संकलन कर लोककला-संग्रहालय स्थापित करने का भी हम लोगों का विचार है जिससे लोककला की ये अमूल्य निधियाँ अकालकालकवलित होने से बचायी जा सकें। इसी हेतु एक लोककला-प्रदर्शनी का भी आयोजन इस अवसर पर किया गया है।

लोक-साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अनुसन्धान करने वाले विद्वानों की सुविधा के लिए एक ऐसे पुस्तकालय की भी स्थापना की जावेगी जिसमें लोक-संस्कृति से सम्बन्धित पुस्तकें तथा शोध-पत्रिकायें उपलब्ध हो सकें। इस संस्थान की एक विशेषता यह होगी कि उसमें थोड़े से कमरों की श्रेणी ऐसी बनाई जायगी जिसमें प्रत्येक पचास या सौ वर्ष में लोककला, वेश-भूषा इत्यादि में क्या अन्तर पड़ा है उसका प्रदर्शन होगा। ऐसे कमरे पाश्चात्य देशों में कहीं-कहीं हैं, जिससे देखने वालों को वह शिक्षा मिलती है जो किताबों से नहीं मिल सकती है। इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। इसमें आशा है कि इस क्षेत्र में शोध करने वाले छात्रों एवं विद्वानों का मार्ग सरल एवं प्रशस्त बन जायेगा। इस संस्थान में एक प्रकाशन विभाग भी रहेगा जिसका प्रधान कार्य लोक-साहित्य से सम्बन्धित वस्तुओं—लोक गीत, लोक-गाथा, लोक-कथा आदि—का संग्रह कर प्रकाशित करना होगा। लोक-संस्कृति से सम्बन्धित शोधपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाश में लाना भी इसका कर्त्तव्य होगा।

अखिल भारतीय लोकसंस्कृति-शोधसंस्थान का कार्यक्षेत्र समस्त भारत रहेगा। भारत भूमि के प्रत्येक राज्य, नगर और गाँव में जाकर लोक-साहित्य एवं लोक-संस्कृति की सामग्री को संकलित करना हमारा उद्देश्य होगा। यह कार्य सचमुच ही महान् है। यह योजना वास्तविक रूप में अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी है। इसका महत्व एवं उपादेयता सन्देह की सीमा के परे है। इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप जैसे विद्वानों की सक्रिय सहायता से यह योजना कार्यान्वित हो करके ही रहेगी। यदि इस सम्मेलन में आये हुये विद्वान् एक मन से, एक भावना से इस कार्य में जुट जायँ तो इस संस्थान की स्थापना कोई कठिन नहीं होगी।

मुझे पूर्ण आशा है कि इस कठिन प्रयास में हम लोगों को आपसे प्रचुर मात्रा में सहानुभूति और साहाय्य प्राप्त होगा। मैं पुनः आप लोगों का हृदय से स्वागत करता हूँ।

वेदों में लोक-संस्कृति

बलदेव उपाध्याय

आजकल 'लोकसंस्कृति' शब्द की विशुद्ध शास्त्रीय परिभाषा देना नितान्त कठिन है। इसका व्यावहारिक अर्थ है जनसाधारण के आचार-विचार, रहन-सहन, क्रियाकलाप को प्रदर्शित करने वाली संस्कृति। जन सामान्यरूप से दो प्रकार के होते हैं—लोकजन और शिष्टजन। किसी देश या समाज में दो स्तरों के प्राणी प्रायः पाये जाते हैं। एक तो होते निम्नस्तर के पुरुष जिनकी शिक्षा-दीक्षा न होने से उनके आचार-विचार एक विचित्र धारा में प्रवाहित होते हैं। इनको ही हम 'जनता' के नाम से पुकारते हैं। दूसरे होते हैं उच्चस्तर के प्राणी जिनकी विशेष शिक्षा-दीक्षा होती है, और अपनी शिक्षा के प्रभाव से जिनकी विचारधारा एक विलक्षण मोड़ लेकर प्रवाहित होती है। इनको ही हम शिष्टजन के नाम से पुकारना उपयुक्त समझते हैं। दोनों की अभिरुचि में, आचार में, विचार में, अवश्यमेव पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों के आचारों में पर्याप्त भेद होता है। लोकाचार में बहुत-से तर्कहीन तथा युक्तिविरहित अनुष्ठानों और विधि-विधानों का हम अस्तित्व पाते हैं, परन्तु शिष्टाचार का स्तर उससे कहीं ऊँचा होता है जिसमें तर्क और युक्ति का आधार खोज निकालना दुरूह कार्य नहीं होता। दोनों की भाषा तथा भाषणशैली में भी पार्थक्य होता है। लोक भाषा और शिष्ट भाषा का, लोक काव्य और शिष्ट काव्य का अन्तर केवल बाहरी नहीं होता, प्रत्युत मौलिक होता है। इस प्रकार समाज में इन विभिन्न स्तर वाले प्राणियों का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में लक्षित किया गया है।

लोकसंस्कृति के अध्ययन के लिये संस्कृत-साहित्य में अमूल्य भाण्डार सुरक्षित है। आवश्यकता है किसी पैनी दृष्टिवाले, समाजशास्त्र के गम्भीर विद्वान् की जो उनके भीतर से बहुमूल्य तथ्यों और सिद्धान्तों को निकाल कर आजकल की शास्त्रीय परिभाषा के भीतर उन्हें निबद्ध करे। वेद शिष्ट संस्कृति के ज्ञान के लिए जितने महत्वपूर्ण हैं, उससे कहीं अधिक वे लोकसंस्कृति के वैभव दिखलाने में जागरूक हैं। यहाँ केवल यातुविद्या अर्थात् जादू, टोना-टोटका आदि नाना अभिधानों में प्रख्यात लोकप्रिय ज्ञातव्य सामग्री का बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

त्रयी में यातुविद्या

अथर्ववेद में यातुविद्या की अनन्त राशि विराजती है जिसकी ओर अन्वेषकों का ध्यान चिरकाल से आकृष्ट होता आया है, परन्तु अन्य वेदों—ऋग्वेद, सामवेद तथा

यजुर्वेद—की संहिताओं में भी इस विद्या के अस्तित्व का पूरा परिचय हमें प्राप्त होता है। त्रयी तथा अथर्ववेद दोनों के धार्मिक अनुष्ठानों में यज्ञ-याग की प्रधानता है जिसका संपादन ब्राह्मणवर्ग के द्वारा गुण की विशिष्टता तथा योग्यता के कारण सर्वदा किया जाता है। यागीय अनुष्ठानों का ब्रह्मन् तथा यातुविधानों (जादू करने में प्रयुक्त क्रिया-कलापों) का ब्रह्मन् अर्थात् मन्त्र एक ही है। ऋग्वेद के प्रमुख ऋषि विश्वामित्र जब आग्रहपूर्वक कहते हैं कि—विश्वामित्र के द्वारा उच्चारित यह ब्रह्म या मन्त्र भारतजन की रक्षा करता है (विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्, ऋक् ३।५३।१२)। तब वे आथर्वण के समान अपने मन्त्र की गम्भीर अचिन्त्य शक्ति के ऊपर पूर्ण विश्वास रखते हैं। दूसरे ऋग्वेदीय ऋषि वशिष्ठ नाना प्रकार के यातुओं से अपना परिचय अभिव्यक्त करते हैं जिनमें से कुछ नाम ये हैं—उलूक यातु, शुशुलूक यातु, श्वयातु, कोकयातु, सुपर्णयातु, गृध्रयातु (ऋक्० ७।१०४।२२)। वे इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि हे इन्द्र, आप पुरुष यातुधान (जादू करने वाले राक्षस) को और माया से मारने वाली स्त्री को मार डालिये (७।१०४ २४)। यहाँ स्पष्ट ही आथर्वण क्रिया की ओर संकेत है। अतः ऋग्वेद यातुविद्या से कथमपि अपरिचित नहीं माना जा सकता। यही दशा तैत्तिरीय संहिता तथा वाजसनेयी संहिता की भी है। वाजसनेयी संहिता (५।२३) का कथन है कि यूप (यज्ञीय स्तम्भ) के निर्माण के लिये खोदी गई पृथ्वी के छिद्रों में बहुत-से भूत-प्रेत (वलग) तथा कृत्या छिपी रहती हैं और इनका नाश अनेक जादुओं के द्वारा किया जाना चाहिये। तैत्तिरीय संहिता (१।१।७) में तीन प्रकार की अग्निओं का वर्णन किया गया है—(क) आमाद—जो अपक्व-कच्ची वस्तुओं को खाता है; (ख) क्रव्याद, जो मांस को खाता है, और (ग) देवयजन, जिसमें देवताओं के लिए हवन किया है। अथर्ववेद में १२वें काण्ड के दूसरे सूक्त में अग्नि के इन तीन प्रकारों का विवरण विस्तार के साथ किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी, विशेषतः ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण के साथ आथर्वण क्रियाकलापों का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि ऐतरेय में उद्धृत अनेक ऋचायें ऋग्वेद में उपलब्ध न होकर अथर्ववेद में मिलती हैं। कहने का तात्पर्य है कि यातुविद्या का सम्बन्ध त्रयी के क्रियाकलाप तथा धार्मिक अनुष्ठानों के साथ अतीव घनिष्ठ तथा गम्भीर है।

अथर्व में यातु के प्रकार

मानव विज्ञान के प्रख्यात अंग्रेज आचार्य सर जेम्स फ्रेज़र के अनुसार जादू दो प्रकार का होता है—

(१) होम्योपैथिक जादू तथा (२) कण्टेजिअस जादू। पहिला है सादृश्य-मूलक जादू जो सादृश्य के नियम पर आश्रित है अर्थात् सदृश कारण सदृश कार्य को उत्पन्न करता है अथवा कार्य अपने कारण के अनुरूप ही होता है। उदाहरण के लिये, शत्रु के मारण प्रसङ्ग में वृक्ष की एक शाखा काट दी जाती है। यहाँ वृक्ष शत्रु का प्रतिनिधि है और उसकी शाखा के तोड़ने का अर्थ होता है उसके अंग को छिन्न-भिन्न कर देना। अथर्ववेद की अनेक यातु प्रक्रियाएँ इस प्रकार के अन्तर्गत आती हैं। शत्रुनाशन के

इस उपाय का प्रयोग अथर्व में अनेकशः किया गया है। भरद्वाज ऋषि का कथन है—

"इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं
यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति" (२।१२।३)

'वशीकरण' की प्रक्रिया में इस जादू का सुन्दर दृष्टान्त उपलब्ध होता है। जिस पुरुष के ऊपर वशीकरण का प्रयोग किया जाता है, जिसे अपने वश में लाना अभीष्ट होता है, उस पुरुष की आटे की मूर्ति वह स्त्री बनाती है और आग में गर्म किये गये बाणों की नोंक से वह उसके माथे को छेदती है और साथ में अथर्व के ६।१३० सूक्त के मन्त्रों का पाठ करती है—

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति।
देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनुशोचतु ॥ २ ॥
उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु ॥ ४ ॥

दूसरे प्रकार के जादू का नाम है कण्टेजिअस मैजिक अर्थात् संसर्गाश्रित यातु। यह जादू संसर्ग के नियम पर आश्रित रहता है। एक पदार्थ यदि दूसरे पदार्थ के साथ संसर्ग रखता है तो वह उस संसर्ग के विच्छिन्न हो जाने पर उस पदार्थ से उसी प्रकार संसर्ग धारण करता रहेगा। इस प्रकार का भी जादू अथर्वसंहिता में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिये हम शत्रुमारण के उस प्रकार को लेते हैं जिसमें शत्रु के द्वारा मर्दित धूलि आग में जलाई जाती है। उसी धूलि पर शत्रु ने अपना पैर रखा था। शत्रु अब दूर चला गया है। धूलि से उसका अब कोई संसर्ग बना हुआ नहीं है। तथापि उसी धूलि को आग में जलाते हैं और भावना करते हैं कि शत्रु आग में जल कर राख हो गया। अथर्व की इस प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाला मन्त्र यह है—

"आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्टवसुं वागपि गच्छतु ॥"
(अथर्व २।१२।८)

जादू में क्रियापक्ष तथा शब्दपक्ष दोनों का महत्त्व रहता है। जादू की क्रिया की जाती है और साथ ही साथ कतिपय मन्त्रों का उच्चारण भी किया जाता है। आथर्वण ऋषि को अपनी क्रिया के ऊपर जितना विश्वास है उतना ही विश्वास अपने मन्त्रों के ऊपर भी है। इसलिये जब वह विश्वासपूर्वक कहता है—

"उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो
दैव्या वाचा भरामसि।"
(८।१।३)

हे साधक! मैं तुझे निर्ऋति के पाश से, मृत्यु के पाश से, अपनी दैवी वाणी—मन्त्र—के बल पर हरण कर रहा हूँ, तब उन्हें अपने रोग की मुक्ति में पूरा विश्वास उत्पन्न

हो जाता है। मन्त्रों की पुनरावृत्ति या शब्दों के किञ्चित् परिवर्तन के साथ आवृत्ति भी जादू टोना की सिद्धि में उपकारक मानी जाती है। अथर्ववेद में मन्त्रों की पुनरावृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। देखिए दशम काण्ड का पञ्चम सूक्त जिसमें—

"अपां शुक्रमापो देवीर्वचो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये॥"

इतना अंश आठ मन्त्रों में बारम्बार दुहराया जाता है अथवा इसी सूक्त के आरम्भ में—

'जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि'

अंश किञ्चित् परिवर्तन के साथ पूरे छः मन्त्रों में आवृत्त किया गया है। 'ब्रह्मयोगैः' के स्थान पर क्षत्रयोगैः, इन्द्रयोगैः, सोमयोगैः, अप्सुयोगैः पद परिवर्तन के साथ आते हैं। जादू में उन्हीं-उन्हीं वाक्यों का बारम्बार उच्चारण करना श्रोता के ऊपर अपना विचित्र प्रभाव डालता है और चित्त के ऊपर अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करता है।

इस प्रकार जादू के जितने प्रकार का, उसकी प्रक्रिया के विधान, प्रभाव उत्पन्न करने के ढंग आदि का वर्णन आजकल के विद्वानों ने खोज निकाला है उन सबका वर्णन विस्तार के साथ अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। तथ्य तो यह है कि अथर्व के अनुशीलन तथा विश्लेषण के आधार पर हम 'यातु विद्या' के मौलिक स्वरूप, प्रकार तथा प्रक्रिया की पद्धति को भली-भाँति जान सकते हैं। अथर्व में तो केवल मन्त्र ही मिलते हैं, परन्तु उनका प्रयोग मिलता है कौशिक सूत्र में। कौशिक सूत्र इस तान्त्रिक विधि-विधानों और अनुष्ठानों का एक अक्षय विश्वकोश कहा जाय, तो कथमपि अनुचित नहीं है। ऐसा ग्रन्थ और वह भी इतना प्राचीन, अन्यत्र नितान्त दुर्लभ है।

लोक-संस्कृति शिष्ट-संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों, तथा क्रिया-कलापों के पूर्ण परिचय के लिये दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है। इस दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक है। ये दोनों संहितायें दो विभिन्न संस्कृतियों के स्वरूप की परिचायिकायें हैं। अथर्व लोक-संस्कृति का परिचायक है, तो ऋग्वेद शिष्ट संस्कृति का। प्राचीन भारत के आचारों का पूरा रूप इन दोनों वेदों के सहयोग से ही हमें प्राप्त हो सकता है। अथर्व के विचारों का धरातल सामान्य जन-जीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जन-जीवन है। साधारण जनता के अनेक विश्वास विचित्र तथा विलक्षण हुआ करते हैं। किसी रोग के निदान करते समय वे आधिदैविक कारणों की उपेक्षा नहीं करते। उनके जीवन पर भूत-दूत, प्रेत-पिशाच, डाकिनी-शाकिनी जैसे अदृश्य अर्धदैविक प्राणियों की सत्ता उसी प्रकार प्रभाव डालती है, जिस प्रकार भूतल के दृश्य प्राणियों का अस्तित्व। उनकी दृष्टि में ये पदार्थ अदृश्य जगत् के निवासी न होकर इस ठोस धरातल पर उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार मनुष्य तथा पशु। फलतः उनके विचार में इन प्राणियों का अस्तित्व उनके जीवन की घटनाओं को प्रभावित करने में सर्वथा समर्थ होता है। आज के वैज्ञानिक युग में हम इन्हें 'अन्ध-विश्वास' सुपर्सटीशन मानते हैं, परन्तु इन विश्वासों में अन्धभक्ति मानना कथमपि उपयुक्त नहीं है। किसी युग के धर्म

और विश्वास की आलोचना उस युग की पृष्ठभूमि में रख कर ही की जा सकती है। विभिन्न युगों की मान्यता के आधार पर किसी प्राचीन युग के विश्वासों की अवहेलना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं माना जा सकता। अथर्व काल का व्यक्ति यदि पागलपन के रोग से ग्रस्त है, तो वह अपने रोग का कारण कोई शारीरिक विकार या मानसिक विकृति नहीं मानता, प्रत्युत वह उसे किसी जीव-जन्तु का बुरा प्रभाव मानता है और उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि यदि जलती हुई आग वाली कड़ाही उसके सिर पर रखी जावेगी और उसमें अग्नि के लिये सुगन्धित द्रव्यों का हवन किया जावेगा, तो उसका पागलपन समूल नष्ट हो जावेगा। अथर्ववेद (६।१११।१–४) के मन्त्रों के प्रयोग तथा उपर्युक्त अनुष्ठान करने से उसका रोग सर्वथा निवृत्त हो जाता है।

कोई कुमारी अपने लिए योग्य पति के पाने में असमर्थ है, तो इसका कारण वह अपने सौन्दर्य के अभाव को हेतु नहीं मानती है, और न वह अपने माता-पिता के प्रयत्नों के शैथिल्य को, प्रत्युत वह किसी अदृश्य जीव को अपने ऊपर प्रभावशाली मान कर उसके प्रभाव को ध्वस्त करने का प्रयत्न करती है। साधारण जन अपने शत्रु को परास्त करने के लिए टोना-टोटका की शरण में जाता है। ऐसे प्राकृतजन के विश्वासों तथा आचारों की जानकारी के लिए अथर्ववेद सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। इस वेद के अध्ययन से पता चलता है कि अभिचार दो प्रकार का होता था। एक तो था मंगलसाधक जिससे साधक अपने कल्याण की कामना करता था। दूसरा होता था अमंगलसाधक जिसमें शत्रुओं को परास्त तथा ध्वस्त करने की भावना प्रबल होती थी। पवित्र अभिचार (अथर्व) में हमें रोग की चिकित्सा के हेतु मन्त्र मिलते हैं, तो अमांगलिक अभिचार (आंगिरस) में शत्रुओं के प्रति, विद्रोहियों के प्रति, अभिशाप मन्त्र मिलते हैं। इन दोनों ही प्रकार के अभिचार मन्त्रों का संग्रह होने के कारण यह समग्र वेद 'अथर्वांगिरस' के नाम से प्रसिद्ध है।

कतिपय उदाहरणों के द्वारा इन अभिचारों के स्वरूप का यहाँ प्रदर्शन किया जा रहा है। यदि कोई व्यक्ति किसी सुन्दरी का प्रेम प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिए अथर्व में अनेक विधान मिलते हैं। 'कौशिक-सूत्र' में एक विधान का प्रकार इस प्रकार है।

प्रेमी उस सुन्दरी की मिट्टी की मूर्ति बनाता है। अपने हाथ में वह सन की डोरी-वाले धनुष् को लेता है, जिसके बाण का अग्रभाग तीक्ष्ण कंटक से बिंधा रहता है। इसी बाण से वह अपनी प्रेयसी के हृदय को बेधता है और साथ में अथर्व के मन्त्रों का (३।२५। १-५ और ६) उच्चारण करता है, जिससे उसका मनोरथ पूर्ण हो जाता है। कभी-कभी बड़े बर्बर अभिचार का प्रयोग हम पाते हैं। ये अभिचार तब किये जाते हैं जब किसी स्त्री को बन्ध्या बनाना अभीष्ट होता है अथवा किसी पुरुष को पुंस्त्वशक्ति से विहीन बना कर नपुंसक बनाने की भावना प्रबल होती है अथर्व (६।१३८; ७।९०)। दुःस्वप्नों को दूर हटाने के लिए कहीं भूतापसरण विधि दी गई है, तो कहीं संग्राम में शत्रु की प्रबल सेना को ध्वस्त करने के लिये तथा राजा को विजयी बनाने के लिए अनेक अभिचार मन्त्र

विहित हैं। रोगों को दूर करने के लिए नानाप्रकार की औषधियों का प्रयोग मन्त्रों के साथ दिया गया है। साधारण ज्वर (तक्मन्), किलास (श्वेतकुष्ठ), क्षेत्रिय रोग (कुल-क्रमागत रोग), यक्ष्मा (क्षय रोग), विष (शरीर में किसी भी प्रकार से प्रविष्ट विष) आदि के निवारण के लिये औषधियों का प्रयोग नाना विधान के साथ यहाँ उपलब्ध होता है, जिससे मानव के कल्याण की भावना सर्वतोमुखी प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि अथर्ववेद प्राकृतजन के विश्वासों का, आचार-विचारों का, रहन-सहन का, अलौकिक-शक्ति में दृढ़ विश्वास का, भूतप्रेत आदि अदृश्य जीवों में पूर्ण आस्था का, एक विराट् विश्वसनीय कोष है जिसकी सहायता से हम उस प्राचीन युग की एक भव्य झाँकी देख सकते हैं। इसके मन्त्रों की भाषा भी अपेक्षाकृत सरल तथा सुबोध है।

ऋग्वेद संस्कृतजन के विचारों की झाँकी प्रस्तुत करता है। उसके आचार-विचारों का धरातल नितान्त उच्चस्तरीय, सुसंस्कृत तथा शिष्ट है। समाज के उच्च स्तर के विचारकों की विचारधारा मन्त्रों के माध्यम द्वारा यहाँ प्रवाहित होती है। मानव-जीवन को सुखमय बनाने वाले तथा प्राकृत दृश्यों के प्रतीकरूप देव हमारे जीवन में सर्वदा प्रभविष्णु तथा महत्वपूर्ण शक्तियाँ हैं। इसीलिए पुरोहितवर्ग अपने लिए, अपने यजमान के लिए, अपने आश्रयदाताओं के लिए बड़ी सुश्लिष्ट स्तुतियाँ सुना कर उन्हें कृपाशील बनने के लिए प्रार्थना करता है। वे सर्वदा अपने पुत्र-पौत्रों, सुख-समृद्धि आदि के निमित्त देवों से प्रार्थना करने में कभी नहीं चूकते। देवों को साक्षात् करने तथा श्रद्धामयी पूजा देने का प्रधान उपकरण यज्ञयाग है। इन्हीं को लक्ष्य कर ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र प्रवर्तित होते हैं। अनेक सूक्त यज्ञ के सम्बन्ध से सर्वथा विहीन आपाततः प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके भीतर कोई याज्ञिक उद्देश्य अवश्यमेव विद्यमान रहता है। यज्ञीय उपकरण नितान्त उदात्त तथा विशुद्ध होते हैं। घृत, यव, तिल तथा सोमरस—ये देवता के उद्देश्य से अर्पित किये जाने वाले प्रधान-पदार्थ हैं। इनमें भी सोमरस का प्रामुख्य है। सोमयाग में सोमरस तीन बार पत्थरों से कूट कर चुलाया जाता था जिसे 'सवनविधि' कहते थे। तदनन्तर ऊन के वस्त्र से उसे छान कर द्रोण कलश में रखते थे तथा उसमें दूध मिलाने की भी विधि थी। इसी का नाम था 'पवमान सोम' जिसके विशिष्ट मन्त्रों के लिए ऋग्वेद का एक विशिष्ट मण्डल ही पृथक् कर दिया गया है। फलतः यज्ञ के अवसर पर इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, सविता, अश्विन् आदि देवताओं के लिए सोमरस का समर्पण ऋग्वेदीय युग का परमोन्नत धार्मिक कृत्य था। इसी के लिए यजुः तथा साम का भी प्रयोग होता था। फलतः ये तीनों—ऋक्, यजुः तथा साम—एक ही यज्ञ को ध्यान में लक्ष्य कर प्रवृत्त होने वाले मन्त्रपुञ्ज हैं। समाज का उच्चस्तरीय भाग इस पूजा-विधान का अधिकारी था तथा इसके लिए प्रयुक्त होने वाली संस्कृत भाषा अपने विशुद्ध उदात्त रूप में हमारे सामने आती है। फलतः ऋग्वेद तथा अथर्व के मन्त्र दोनों मिल कर वैदिक युग के धार्मिक विधि-विधान का स्वरूप प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। प्राकृत-जन तथा संस्कृतजन दोनों जनों का विचार-धरातल इन ग्रन्थों में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। अतएव ये दोनों एक दूसरे के परस्पर पूरक माने जा सकते हैं।

ऊपर के वर्णन से यह न समझना चाहिए कि अथर्व में यज्ञ-विधान का स्थान नगण्य और उपेक्षणीय है। ऋग्वेदीय यज्ञ-याग का विधान यहाँ भी किया गया है, परन्तु यज्ञ का सम्बन्ध अभिचार के साथ विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया गया है। उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति के साथ ही साथ सांसारिक अभ्युदय तथा शत्रुओं की पैराजय भी था। यज्ञ एक प्रकार मायाशक्ति का आश्रय माना जाने लगा और इस मायाशक्ति का नाम ही पड़ गया—ब्रह्मन्! इस प्रकार अथर्व में हम यज्ञ की भावना में भी एक विकाश का परिचय पाते हैं। यह विकाश भौतिक रूप से मानस स्तर तक पहुँचने का सूचक है। यज्ञ प्रतीकात्मक रूप से होकर मानस विधान की कोटि में आता है अर्थात् यज्ञ के वास्तव विधान से आगे उठकर यजमान केवल मानसिक क्रिया के द्वारा अब यज्ञ का निष्पादन करता है। इस प्रकार यज्ञ की यह आध्यात्मिक भावना हमें औपनिषद् कल्पना के पास पहुँचा देती है। इस समय यज्ञ बहुत ही सीधे-सादे विधान थे, जिनका सम्पादन थोड़े से खर्चे में और थोड़े ही दिनों में होना शक्य हो गया। इस प्रकार अथर्ववेद में हम यज्ञ के स्वरूप तथा विधान में पूर्व वेदों की अपेक्षा मौलिक परिवर्तन पाते हैं।

संत-काव्य में लोक-संकृति

त्रिलोकीनारायण दीक्षित

'संकृति' का अर्थ 'सम्यक् कृति' है। इस शब्द का एक और तर्कसंगत अर्थ निकलता है और वह है 'संभूय कृति'। अर्थात् मानव व्यक्तिशः 'सम्यक् कृति' में सलग्न रहे और संघशः 'संभूयकृति' में अनुरक्त रहे। मानव जीवन के दो पक्ष होते हैं। एक व्यक्तिगत और दूसरा समाजगत। दोनों का ध्येय सम्यक् कृति की ओर होना चाहिए। यही मानव संस्कृति का परम लक्ष्य या ध्येय है। संस्कार और संस्कृति में कोई विशेष अन्तर नहीं है। संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है, विभिन्न संस्कारों द्वारा व्यक्ति की प्रतिभा और योग्यता का पूर्ण विकास। इस संस्कृति की सहज और सरल अभिव्यक्ति कर्तव्यों के प्रति वैयक्तिक एवं सामाजिक जागरूकता, एवं कृतज्ञता के परिपालन के रूप में होती है। प्रत्येक संस्कृति की व्यक्तिगत विशिष्टताएँ, गुण, प्रभाव, प्रतिभा, आचार-विचार, शैली पृथक्-पृथक् हैं।

संस्कृति और सभ्यता में अन्तर है। पद्धति, रीति-रवाज, व्यवहार संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। सांसारिक सुख एवं ऐश्वर्य सभ्यता के अन्तर्गत आते हैं। संस्कृति अन्तःकरण है और सभ्यता शरीर। संस्कृति सभ्यता द्वारा प्रकाश में आती है, व्यक्त होती है। संस्कृति एक प्रकार का साँचा है, जिसमें समाज के विचार ढलते हैं। इस बिन्दु में जीवन की समस्याएँ देखी जाती हैं। संस्कृति सदैव एक सी नहीं रहती है। नये सम्पर्कों एवं अभियानों के फलस्वरूप संस्कृति परिवर्तित होती रहती है। परन्तु संस्कृति की उपेक्षा सभ्यता शीघ्र बदल जाती है। संस्कृति क्रम के साथ बुद्धिसात् की जाती है, पर उसका अनुकरण दुस्तर और सभ्यता का अनुकरण और ग्रहण सरलता के साथ होता है। 'सभ्यता' शब्द 'सभ्य' शब्द से निर्मित है जिसका अर्थ होता है—सभा में बैठने की योग्यता। अतः इसका सम्बन्ध समाज से अधिक है और संस्कृति समाज की आत्मा और प्राणशक्ति है।

संस्कृति, उसकी व्यापक स्थिति, स्वरूप, विशेषता, महत्ता तथा सभ्यता से उसका भेद आदि का अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम 'लोक-संस्कृति' का अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम 'लोक' शब्द विचारणीय है। लोक का अर्थ होता है संसार, जन, समाज, स्थान। उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—इहलोक एवं परलोक। 'निरुक्त' में लोक शब्द का प्रयोग पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के अर्थ में हुआ है।

पौराणिक काल में लोक शब्द का प्रयोग भूलोग, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक के अर्थ में पाया जाता है। पौराणिक काल के अनन्तर इस शब्द का प्रयोग अतल, नितल, वितल, गभस्तिमान्, तल, सुतल और पाताल के अर्थ में किया गया। आज इस शब्द का प्रयोग 'जन जनता' या 'सर्वसाधारण' के अर्थ में हो रहा है। हिमालय की गोद में बसे हुए छोटे-छोटे जनपदों से लेकर कुमारी अन्तरीप तक प्रसृत व्यापक जन-समूह या मानव समाज लोक है। भारतीय लोक-जीवन का इतिहास बड़ा प्राचीन और सुदीर्घ है। शताब्दियों से जो कुछ हमने चिन्तन किया और उस चिन्तन को कार्यरूप में परिणत किया, वह हमारी रहनी, सहनी, करनी, रीति-रवाज और व्यवहार सभी कुछ 'लोक जीवन' है। लोक-जीवन ही लोक-संस्कृति का अभिन्न अंग है। लोक-जीवन एवं लोक-संकृति की पुण्य सलिला भागीरथी युग-युग से प्रवाहित है और प्रवाहित रहेगी। इसका स्रोत लोक-जीवन है। लोक-संस्कृति राष्ट्र का अमर रूप है। लोक-इतिहास के ज्वलंत व्यक्तित्वों और गौरवमान घटनाओं के विस्तृत इतिहास को मानव-समाज के स्मृति पटल पर सदैव सुरक्षित रखता है। लोक के सम्बन्ध में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का निम्नलिखित कथन पठनीय है। 'हमारी कृषि, अर्थशक्ति, ज्ञान, साहित्य, कला के नाना रूप, भाषाएँ और शब्दों के भण्डार, जीवन के आनन्दमय पर्वोत्सव, नृत्य, संगीत, कथा-वार्ताएँ, आचार-विचार सभी कुछ भारतीय लोक में ओतप्रोत है। लोक की गंगा युग-युग से बह रही है। उसके ओजस्वी प्रवाह में हमारी संस्कृति के मेघजल पूर्व युगों में बरसते रहे हैं, संप्रति बरस रहे हैं और आगे भी उनकी सहस्रधारायें लोक-जीवन की भागीरथी को आगे बढ़ाती रहेंगी। लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान, सभी कुछ संचित रहता है। लोक ही राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक के कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूत-माता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव यही हमारे नए जीवन का अध्यात्मशास्त्र है। इनका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्वाण का नवीन रूप है। लोक-पृथ्वी-मानव इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है। लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नहीं है। इसे बस एक और नया शास्त्र कह कर नहीं टाला जा सकता। लोक-सम्पर्क के बिना सब शास्त्र अधूरे हैं। लोक का अमृत-निस्यन्द जिस शास्त्र में नहीं मिलता है, वह कितना भी पण्डिताऊ हो निष्प्राण रहता है।'

लोक समस्त प्रकार के ज्ञान का स्रोत है। लोक-हित, लोक-भावना, लोक-प्रवृत्ति और लोक-चिन्तन की भावना से विहीन कला या साहित्य बुद्धि-चमत्कार या कला-कौशल का प्रसार मात्र है। साहित्य या कला ऐसी होनी चाहिए जो लोक जीवन को सींच सके, उसे पल्लवित एवं पुष्पित होने में सहायता कर सके तथा मानवता के विकास में योगदान प्रदान कर सके। लोक-जीवन के विकास अथवा लोक-संस्कृति के उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार या साहित्यकार लोक के प्रति संवेदनात्मक दृष्टिकोण को अपनाए। वेदव्यास ने अपनी शतसाहस्री संहिता में एक स्थान पर लिखा है कि—

'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः'

अर्थात् जो व्यक्ति लोक को स्वतः अपने चक्षुओं से देखता है वही उसे सम्यक् रूप से देखता है। तत्व की बात यह है कि प्रत्यक्ष दर्शन ही समस्त दर्शन का रहस्य है। यह सभी साहित्यों एवं कलाओं के लिए नितान्त आवश्यक है। लोक अनेकानेक प्रकार से हमारे चारों ओर फैला हुआ है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में उल्लेख हुआ है—

"बहु व्याहितो वा अयं बहुशो लोकः।
क एतद् अस्य पुनरीहतो अयात॥"

जै० उ० ब्रा० ३।२८

किसी भी देश की स्थिति उस देश के लोक पर निर्भर होती है 'प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।' लोक-संस्कृति के सच्चे रक्षक और प्रतिष्ठापक वे ग्रामीण होते हैं जो सभ्यता के प्रतीक और कृत्रिमता के केन्द्र-शहरों से दूर—बहुत दूर प्रकृति की शरण में पले हुए देहातों में निवास करते हैं। ये ही भारतीय लोक-संस्कृति के जीवित एवं जाग्रत प्रहरी हैं।

लोक-संस्कृति समन्वय का एक बहुमूल्य माध्यम है। विरोधी एवं विभिन्न धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारधाराओं की समन्वयकारी शक्ति यही, लोक-संस्कृति हुआ करती है। इस देश की लोक-संस्कृति ने जो भी विदेशी एवं अवैदिक शक, मग, पारसीक, यवन, अंग्रेज आए उन्हें हर प्रकार से अपना लिया। भारतीय संस्कृति को अनेक बार भीषण संघर्षों और दुर्धर्ष आक्रमणों का सामना करना पड़ा। कभी वह संकट में पड़ी और कभी विनाशप्राय स्थिति को प्राप्त हुई परन्तु फिर भी देश की लोक-संस्कृति इस परिस्थिति से दूर रही। संक्षेप में लोक-संस्कृति में प्राणदशक्ति एवं समन्वय के अनन्त स्रोत हैं। लोक-संस्कृति के जो मूल तत्व माने गये हैं वे ये हैं:—

१—भिन्नता में एकता।
२—बाह्यरूप में परिवर्तन परन्तु तात्विक स्थिरता।
३—मानवता एवं सहिष्णुता।
४—प्रकृति से अभिन्न सम्बन्ध।
५—सत्य परिपालन।
६—विद्या और कला की उन्नति।
७—आध्यात्मिक विकास।
८—तत्वज्ञों का समय-समय पर आविर्भाव।
९—ज्ञान की पिपासा।
१०—प्रजा-पालक शासन।

लोक-संस्कृति का एक अभिन्न अंग है लोक-साहित्य। साहित्य दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार का साहित्य वह है, जिसकी रचना शिष्ट समुदाय के लिये होती है। यह कलात्मक, बुद्धि के चमत्कार से परिपूर्ण और अभिव्यंजना-कला की शोभा से मण्डित होता है। इसका लक्ष्य होता है शिक्षित समुदाय। द्वितीय प्रकार का साहित्य 'लोक-साहित्य' है। इसका केन्द्रविन्दु जनता या 'लोक' होता है। इसकी रचना बहु-जनहिताय बहुजनसुखाय होती है। सादगी एवं सरलता से युक्त यह साहित्य जनता के धरातल पर सदैव प्रवाहित रहता है। इस साहित्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

१—भावुकता । ३—उदारता ।
२—कोमलता । ४—अकृत्रिमता ।

एक ही भगवान् राम की कथा को लेकर दो महाकवियों—गोस्वामी तुलसीदास तथा आचार्य केशवदास ने काव्य की रचना की। परन्तु 'रामचरित मानस' लोक-साहित्य का आदर्श बन गया और 'रामचन्द्रिका' शिष्ट साहित्य में परिगणित होने लगी।

सन्तों का साहित्य लोक-साहित्य है। सन्तों के काव्य काकेन्द्रबिन्दु या लक्ष्य मानव समाज, जनसाधारण या लोक है। सन्तों के साहित्य में मानव-जीवन के धार्मिक एवं सामाजिक पक्ष पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक दशा में सन्तों के काव्य का विषय मनुष्य या जनसाधारण है जो लोक का प्राण और सर्वस्व माना जाता है। सन्तों के साहित्य का वर्ण्य-विषय दो भागों में विभाजित है।

(क) आध्यात्मिक—

(१) क्रियात्मक—इसका वर्ण्य-विषय निराकार ब्रह्म, नाम स्मरण, भक्ति, विरह, पातिव्रत, प्रेम, विश्वास, सत्संग, उपदेश, शील, क्षमा, दया, तप, त्याग, सन्तोष, धीरज, दीनता, विवेक और गुरुदेव हैं।

(२) आलोचनात्मक—इसका वर्ण्य-विषय भेष, क्रोध, काम, मोह, माया, मान, कपट, कनक, कामिनी, नशा, मिथ्याहार, तीर्थ-व्रत, दुर्जन तथा कुसंग आदि हैं।

(ख) सामाजिक—

(१) क्रियात्मक—समदृष्टि-समता-उदारता, एकता, विश्वबन्धुत्व, सच्चरित्रता।
(२) आलोचनात्मक—जातिपाँति-बाह्याचार-भेद-भाव, चेतावनी।

इस समस्त वर्ण्य-विषय का केन्द्रबिन्दु जनसाधारण है। यह स्मरण रखना होगा कि सन्तों के काव्य का लक्ष्य मानव समाज है तथा वह व्यक्ति है जो युग-युग से शोषित और उपेक्षित है। वह नई सभ्यता और कृत्रिमता से दूर जनपदों में सादगी का जीवन व्यतीत कर रहा है। वह सरलता और सादगी में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता। ऐसे मनुष्य को साहित्य का वर्ण्य-विषय बनाकर सन्तों ने अपने काव्य की रचना की है। सन्तों का काव्य लोक के उस बहुत बड़े अंश के लिए लिखा गया है जो पण्डित-पण्डा, मुल्ला-मौलवी द्वारा चिरकाल से अज्ञान के कारण शोषित है। समाज ने उसे अन्त्यज, अस्पृश्य, अछूत और संस्कारविहीन कह कर उसके लिए ज्ञान के प्रकाश से आलोकित भवन (पाठशालाओं) के द्वार और साधना के मार्ग अवरुद्ध कर रखे हैं। सन्तों ने लोक के इस विस्तृत समूह के लिए काव्य की रचना की। सन्तों का यह साहित्य प्रबोध और जाग्रति की भावना से भरा हुआ है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस साहित्य की अपनी उपयोगिता है। इस साहित्य ने १३वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक भारतीय जनता को ज्ञान, ऐक्य, सद्भावना, औदार्य और विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया और इस प्रकार तत्कालीन

कुव्यवस्था, भेद-भाव, असहिष्णुता, आदि को दूर करने या उसके प्रभाव को कम करने में बड़ा योगदान प्रदान किया।

सन्तों का साहित्य जीवन का प्रतीक और पर्याय है। इसमें मानव-जीवन को गतिशीलता और प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति है। इसमें शोषकों से दूर रहकर, विनाशकारी तत्वों से पृथक् रह कर, साधना करने का उपदेश दिया गया है और पथ-प्रदर्शन किया गया है। गर्हित जीवन को कल्याणपथ पर अग्रसर करने के लिए इस साहित्य में अदम्य शक्ति है। माया, वासना, भेदभाव और अन्य विषयों में संलग्न प्राणियों को झकझोर कर चेतनशील और जागृत करने की सामर्थ्य इस साहित्य में विद्यमान है। जीवन को उत्तमोत्तम मार्ग और दिशा की ओर संकेत करने वाले इस साहित्य की उपयोगिता युग-युग तक रहेगी। 'बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय। जो दिल खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय।' पढ़कर कौन व्यक्ति प्रभावित हुए बिना न रहेगा?

सन्तों का साहित्य मध्ययुगीन लोक-संस्कृति का सच्चा दर्पण है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, यह उक्ति सन्त-साहित्य के लिये बहुत ही उपयुक्त और सार्थक है। सन्त-साहित्य का अवलोकन करने से मध्ययुगीन समाज की गति-विधि, रीति-नीति, आदान-प्रदान, विश्वास-आस्था, साधना और उपासना, प्रेय और श्रेय, दायित्व-निर्वाह और उपेक्षा का अनुमान होता है। इस साहित्य से स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुग असमानता का समय था। असमानता का अभिशाप उपलब्धि और वितरण में समान रूप से दुःखदायी था। साधना कितनी विकृत हो गई थी, मानवता का कितना पतन हो गया था, समाज कितना भ्रष्ट हो गया था और जीवन कितना विषम था, यह इस साहित्य से भली-भांति प्रकट हो जाता है। सन्त कवि अपने युग के जाग्रत प्रहरी और चेतन कलाकार थे।

सन्त-काव्य के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण बात यह है कि इन उदारचेता मनस्वियों ने हिन्दी वीरगाथा-कालीन कवियों की खुशामदी, जुझाने वाली और संघर्ष समुत्पन्न करने वाली परम्पराओं को तिलांजलि देकर ऐसे विषय को ग्रहण किया, जिसका सम्बन्ध जनता और लोक से था। सन्तों ने जीवन के सभी पक्षों को लिया। किसी मनुष्य के सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक कर्तव्य क्या हैं, आदर्श मनुष्य का स्वरूप क्या है, आदर्श साधक को कैसा होना चाहिए, जीवन का प्रेय और श्रेय क्या है, मानव-मानव में क्या सम्बन्ध है, चरित्र और रहनी की क्या परिभाषा है, इन पक्षों पर सन्तों ने प्रचुर विस्तार के साथ विचार प्रकट किया है। सच बात यह है कि दरबारी कवियों की भांति इन्हों ने अपनी प्रतिभा का विकास और प्रसार लक्षणग्रन्थों, नायिका भेद, अलंकारवाद तथा शब्दों की कलाबाजी तक ही सीमित नहीं रखा, प्रत्युत इन्हों ने लोक-जीवन या जन-जीवन को समुन्नत बनाने के लिए प्रत्येक प्रकार से प्रयत्न किया और आगे चलकर रास्ता दिखाया। यद्यपि इनके काव्य में तुलसीदास जैसी प्रबन्ध-पटुता, सूर जैसा माधुर्य, केशवदास जैसा आचार्यत्व, मतिराम और बिहारी जैसा प्रेम और रोमांस, नन्ददास जैसा शब्दसंचय, देव जैसा लालित्य नहीं मिलता, फिर भी इनके

काव्य में व्यक्त लोक-तत्व, लोक-हितैषी भावना, लोक-कल्याणकारी स्वर ने इनके साहित्य को तेरहवीं शताब्दी से लेकर आज तक जीवन, लोक-प्रियता और अमरत्व प्रदान किया है। सन्तों का साहित्य मार्ग या राजपथ पर लगे लैम्प-पोस्ट के समान है जो धनी-निर्धन, बालक-वृद्ध, कुलीन और अन्त्यज सभी का मार्ग आलोकित करता रहता है, सभी को उसके गन्तव्य की दिशा प्रदान करता है।

सन्तों के काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम लोक-भाषा है। लोक-भाषा की उपयोगिता का जो स्वर संवत् १६३१ में गोस्वामी तुलसीदास के कंठ से 'का भाखा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच। काम जो आवै कामरी का लै करै कमाच' के रूप से प्रस्फुटित हुआ था, वह बहुत आगे कबीरदास के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ 'संस्कीरति है कूप जल, भाषा बहता नीर'। युग-युग से संस्कृत, अरबी और फारसी में भावाभिव्यक्ति के आदर्श में क्रांति उपस्थित करके सन्तों ने लोक-भाषा में लोकहित की भावना को चेतावनियों और उपदेशों के रूप में अभिव्यक्त किया। सन्त कवि मनोविज्ञान के कुशल पारखी थे, वे जानते थे कि शिष्ट वर्ग की भाषा में व्यक्त भावों का न प्रसार होगा न समादर। इसीलिए लोक-धर्म का प्रचार उन्होंने जनता की भाषा में किया।

सन्तों की अप्रस्तुत योजना लोक-तत्वों या लोक-संस्कृति के अत्यन्त सन्निकट है। उनकी प्रतीक-योजना जन-जीवन से ग्रहण की गई है। चरखा, सूप, झीनी चदरिया, साड़ी, कुम्हार, रंगरेज, रहटा, व्याघ्र, मधुकर, कोठरी, चोर, पनिहारिन, बदरिया, ढोलनहार, ध्वजा, मछली, पंछी, चोर, हाथी, मतंग, दीपक, वेश्या, चन्दन, बनिया, वैद्य, हाथी, दीपक, हंसा, कहार, पूत, महतारी, सूरमा तथा कुआँ आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जो लोक-जीवन और लोक-भाषा से ग्रहण किए गए हैं परन्तु फिर भी ये प्रतीकों के रूप में बेजोड़ साबित होते हैं। इनके द्वारा जो शब्द-चित्र या भाव व्यक्त किए गए हैं, वे बड़े ही प्रभावशाली और मनोरंजक हैं। सन्त कवि रूपकों के विधान में बड़े कुशल और चतुर थे। इनके रूपक और अन्योक्तियों की रचना लोक तत्वों या लोक-संस्कृति के आधार पर हुई है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनकी अप्रस्तुत-योजना जितनी जन-जीवन के निकट है, उतनी ही यथार्थ और प्रभावशाली है। कबीर की निम्नलिखित अप्रस्तुत योजना किसे प्रभावित नहीं करती ?—

"कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।
चन्दन काठ के बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो।
उठो री सखी मोरी माँग संवारो, दुलहा मोसे रूठल हो॥
आये जमराज पलंग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहु दिसि धू-धू ऊठल हो॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, जग से नाता छूटल हो।"

सन्तों की अप्रस्तुत योजना को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर एक और पद को उद्धृत करना आवश्यक है। यह पद भी कबीर का है। इस पद की प्रतीक-योजना और अप्रस्तुत विधान बड़ा ही मार्मिक है—

"आई गवनवाँ की सारी, अजहूँ उमिरि मोरी बारी।
साज-समाज पिया लै आए, और कहरिया चारी॥
बम्हना बेदरदी अचरा पकरि कै, जोरत गँठिया हमारी।
बिधि गति वाम कछु समझ परत ना, बैरी भई महतारी॥
रोय-रोय अँखियाँ मोर पोंछत, घरवा से देत निकारी।
गवन कराय पिया लै चले, इत उत बाट निहारी॥
छूटत गाँव नगर से नाता, छूटै महल अटारी।
नदिया किनारे बलम मोर रसिया, दीन्ह घुँघट-पट टारी॥
थर-थर तन काँपन लागे, काहू न देख हमारी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह पद लेहु विचारी॥
अबके गौना बहुरि नहिं औना, करिले भेंट अँकवारी।"

इस पद की मार्मिकता और भावुकता किसे नहीं प्रभावित करती है!

सन्तों की कला 'आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई, नहीं तो राधा कन्हाई के सुमिरन को बहानो है' लेकर नहीं चली। जनहित की भावना उसकी मुख्य प्रेरणा है। जनता का यह हित लौकिक और पारलौकिक दोनों है।

सन्त कवि लोक-धर्म के संस्थापक थे। धर्म के क्षेत्र में उन्हों ने बड़ी महत्वपूर्ण क्रान्ति उपस्थित की। युग-युग से चले आनेवाले बाह्याचारों से आच्छादित, स्वार्थ से अभिशप्त, वासनाओं से पूर्ण तथा शोषण की आधारशिला प्राचीन धार्मिक परम्पराओं की सन्तों ने खुले शब्दों में निन्दा की। ये सन्त लोक-धर्म के प्रतिपादक थे और अन्ध परम्पराओं और धार्मिक विश्वासों के कटु निन्दक थे। सन्तों का लोक-धर्म बड़ा व्यापक और सहज है। उसमें जनेऊ, माला, तसवीर, तिलक, चन्दन, तप, जप, तीर्थ, हज्ज तथा अन्य बाह्याचारों की कोई आवश्यकता नहीं है। सन्तों का व्यापक लोक-धर्म हृदय की उदात्त भावनाओं और मानव की सहज एवं उदार मान्यताओं पर निर्भर है। कबीर के मत से दया ही धर्म का मूल है :—

"जहाँ दया तहाँ धर्म है, जहाँ लोभ तहाँ पाप।
जहाँ क्रोध तहाँ काल है, जहाँ छिमा तहाँ आप॥"
तथा—"दया धर्म हिरदे बसै, बोलै अमृत बैन।
तेई ऊँचे जानिये, जिनके नीचे नैन॥"

सुन्दरदास ब्रह्म की सहज भक्ति को ही धर्म का सारांश मानते हैं :—

"सुन्दर जिन पतिव्रत किये, तिन कीये सब धर्म।"
तथा—"सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमन के माँहि।
अनन्य भक्त वह जानिये, सुमिरन भूलै नाँहि॥"

गरीबदास के अनुसार धर्म की परिभाषा सुनिये—

सील सन्तोष विवेक बुधि, दया धर्म इक तार।
बिन निहचै पाव नहीं, साहिब का दीदार॥

सील सन्तोष विबेक बुधि, दया धर्म इक तार।
अकल यकीन इमान रख, गही वस्तु निज सार॥

स्पष्ट है कि गरीबदास का लोक-धर्म शील, सन्तोष, विवेक, सद्बुद्धि, दया, ईमान, दृढ़मति ही पर आश्रित है। सन्तों के व्यापक लोक-धर्म के आधार निम्नलिखित गुण या तत्व हैं :—

१—प्रेम
२—समदृष्टि
३—सेवाभाव
४—संसार और स्वार्थ से विरक्ति
५—सद्गुरु वन्दना
६—नाम
७—सत्य
८—अहिंसा
९—क्षमा, दया तथा औदार्य
१०—सहिष्णुता।

सन्तों की दृष्टि में ब्रह्म और निर्वाण तीर्थ, व्रत, गंगोदक में नहीं है वरन् सत्य और सतनाम में है। कबीर ने अनुभव के आधार पर कहा कि परम्परागत धर्म, पूजा, पाठ, नितान्त भ्रमाच्छादित हैं और वे पण्डित और मौलवी निरे माया के चेरे हैं :—

"तीरथ व्रत करि जग मुआ, जूडे पानी न्हाय।
सत नाम जाने बिना, काल जुगन जुग खाय॥
पंडित और कसलियी, दोनों सूझै नाहिं।
औरन को करै चाँदन, आप अंधेरे माँहिं॥"

तथा—"पूजा सेवा नेम व्रत गुडियन का सा खेल।
जब लगि पिउ परिचय नहीं, तब लगि संसय मेल॥"

कबीर ने सत्य ही कहा था कि—

जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं, तहाँ न बुधि ब्यौहार।
प्रेम मगन जब मन भया, कौन गिने तिथि वार॥

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों की धर्मविषयक धारणा और परिभाषा बड़ी ही क्रांतिकारी है। सन्तों का धर्म प्रेम, समदृष्टि और उदारता के आधार पर निर्मित सामान्य लोक-धर्म है। इसके परिपालन के लिए न किसी तीर्थ जाने की आवश्यकता है न व्रत करने की जरूरत है। जीवन को सहज, सरल और निर्मल बनाना ही इस लोक-धर्म का प्रयोजन है।

सन्तों की साधना भी अन्तर-साधना है। साधना का वह रूप लोक-धर्म का अभिन्न अंग इसलिए बन गया कि इसमें सरलता और सुगमता दोनों हैं। दादू की निम्नलिखित पंक्तियों में यही भाव (अन्तस्साधना) व्यक्त हुआ है—

"भाई रे घर ही में घर पाया!
सहज समाइ रह्यो ता माही, सतगुरु खोज बताया।
ता घर काजि सबै फिर आया, आपै आप लखाया॥
खोलि कपाट महल के दीन्हे, फिर स्थान दिखाया।
भयऊ भेद मर्म सब भागा, साँच सोइ मन लागा॥

निह्चल सदा चले नहिं कबहूँ, देख्या सब में सोई।
ताही सो मेरा मन लागा, और न दूजा कोई॥
आदि अनन्त सोइ घर पाया, रब मन अनतन जाई।
दादू एकै रंगै रंग लाया, तामैं रहा समाई॥"

बाह्याचार की अपेक्षा सहज समाधि की प्रशंसा कबीर ने भी की है—

"साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन सों जागी दिन दिन अधिक चली॥
जँह जँह डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौ तब करौ दण्डवत, पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन, खावौं पिवौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥
आँख न मूदौं, कान न रूधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौ।
खुले नैनन पहिचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौ॥
सबद निरञ्जन से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
उठत-बैठत कबहुँ नहि छूटै ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनी सो परगट करि गाई।
दुख-सुख से कोइ परे, परमपद तेहि पद रहा समाई॥"

सन्तों की कला और उपदेशों ने १३वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक जनता के जीवन में चतुर्दिक परिवर्तन समुपस्थित कर दिया। कोरी, चमार, जुलाहा, किसान, अछूत के लिए इसी प्रकार के धर्म की आवश्यकता थी। पातंजल योगसूत्र, गणेश संहिता, घेरण्डसंहिता आदि ग्रंथों में प्रतिपादित योग, साधना और ज्ञान की अशिक्षित जनता के लिए क्या उपयोगिता हो सकती थी। अशिक्षित जनता के लिए सहज समाधि, नाम, जप, सत्य-पालन, उदारता एवं सहिष्णुता का आदर्श सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के लिए समान रूप से उपयोगी और लाभप्रद था।

सन्तों के साहित्य से अनेक पद लोक-गीतों के रूप में जनता में प्रचलित हैं। ग्रामीण समाज खंझरी और ढोलक, एकतारा और सितार पर सन्तों के पदों का गायन करके एक ओर धार्मिक दायित्व की पूर्ति करता है और दूसरी ओर मनोरंजन भी करता है। इस प्रकार से लोक-गीतों का प्रचार जनता में अत्यधिक है। निर्गुन नामक लोक-गीतों में गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, कबीर, रैदास, गोपीचन्द तथा भरथरी के गीत बहुत जनप्रिय हैं। इन कवियों के अतिरिक्त सुन्दरदास, मलूकदास, चरनदास, दरिया साहब, सहजोबाई आदि के लोक-गीत भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बड़े जनप्रिय हैं। सुन्दरदास के लोक-गीत राजस्थान, मलूकदास के गीत प्रयाग जिला, चरनदास के गीत अलवर प्रांत, दरिया साहब के बिहार प्रान्त में अधिक सुने जाते हैं। विभिन्न सन्तों की गद्दियों अथवा समाधि-स्थलों पर सन्तों की संगतों में प्रायः सभी सन्त-कवियों के गीत गाए जाते हैं। सामान्य

जनता की निम्न जातियों—कोरी, चमार, खुनखुनिया, धोबी तथा अहीरों—में कबीर, भरथरी और रैदास के भजन और गीत बहुत समादृत हैं। इन लोक-गीतों में श्रद्धा, भक्ति और सद्भावना का प्रसार करने की अद्भुत शक्ति है। सन्तों के लोक-गीतों के विषय सामान्यतया ६ प्रकार के हैं :—

१—रहस्य भावना	४—समाजगत विषमता
२—क्षणभंगुरता	५—माया, कनक-कामिनी की निन्दा
३—साम्य भावना	६—पांडे, पंडित, एवं मुल्ला का उपहास।

सन्तों के लोक-गीत माधुर्य के स्रोत हैं। इनमें प्रभावित करने की अद्वितीय शक्ति है। ये मन और बुद्धि का समान रूप से संस्पर्श करते हैं। कबीर का निम्नलिखित पद लोक-गीत के रूप में बहुत प्रचलित है :—

"झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे क ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया॥
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कमल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त गुन बीनी चदरिया॥
साईं को सियत मास दस लागे ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया॥
दास कबीर जतनु से ओढ़ी ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया।"

यह पद जनता में बड़ा प्रिय है। प्रसन्नता की बात यह है कि साहित्यिक अभिरुचि के लोग भी इसे समान रूप से पसन्द करते हैं।

सन्त-साहित्य जनता का साहित्य है, लोक का साहित्य है, इसलिए इस साहित्य में तत्कालीन (१३-१८वीं शताब्दी तक की) जनता के दुःख-दारिद्रय, शोषण-त्रास और दमन के चित्र अंकित हुए हैं। इतना ही नहीं, इसमें जनता का दबा हुआ आक्रोश फूट पड़ा है। कबीर, नानक आदि सन्तों ने अन्याय का भी विरोध किया। इन्हों ने अपने समय की जनता की दुर्दशा का अध्ययन करके, उसकी ओर ध्यान देकर, उसे दुःख से छुटकारा दिलाने का प्रयास किया। उनका यह प्रयास आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन में समानरूपेण उपयोगी और महत्वपूर्ण था। जनता के शोषण, यम की यातना, भेद-भाव के अभिशाप से अपने समय की जनता को सन्तों ने बचाने का प्रयत्न तो किया ही, साथ ही उन्हों ने देश और समाज में असमान वितरण की ओर भी ध्यान दिया। सन्त चरनदास की निम्नलिखित पंक्तियों में सामाजिक एवं आर्थिक असमानता की ओर संकेत किया गया है—

"एकन पग पनही नहीं, एक चढ़ै सुखपाल।
यही जो मोहि बताइये, एक मुक्ति को जाहिं॥
एक नरक को जाय करि, मार जमों की खाहिं।
एक दुखी एक अति सुखी, एक भूप इक रंक।
एकन को विद्या बड़ी, एक पढ़े नहिं अंक॥

६

एकन को मेवा मिलै, एक चने भी नाँहि।
कारन कौन दिखाइये करि चरनन की छाँहि॥
यही मोहि समझाइए, मनको धोखा जाय।
हुवे करि निस्सन्देह मैं, रहो चरन लिपटाय॥"

इन पंक्तियों में कवि ने असमान वितरण की बड़ी कटु निन्दा करते हुए तत्कालीन समाज का चित्रण किया है।

सन्तों ने अपने समय में प्रचलित लोकाचारों और कुप्रवृत्तियों की भी आलोचना बड़े रोचक ढंग से की है। जनेऊ और खतना हिन्दू तथा मुसलमानों के प्रसिद्ध लोकाचार हैं। कबीर ने इनकी आलोचना की, और कबीर की परम्परा में आविर्भूत अनेक अन्य सन्तों ने भी इस दिशा में कबीर का अनुसरण किया। इस सम्बन्ध में कबीर का कथन पठनीय होगा :—

"जो पै करता बरण विचारै, तौ जनमत तीनि डाँडि किन सारै।
उतपति व्यंद कहा थै आया, जोति धरी अरु लागी माया॥
नहिं कोउ ऊँचा नहिं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा।
जे तू बाँभन बमनि जाया, तौ आवर वाट ह्वै काहे न आया॥
ते तू तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतर खतना क्यूँ न कराया।
कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सो मधिम जा मुखि राम न होई॥

एक और पद में कबीर ने बलात् धर्मपरिवर्तन करके मुसलमान बना लेने की कटु निन्दा की है। इसमें भी लोकाचारों की आलोचना की गई है :—

"काजी कौन कतेब बषांनैं।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जानै॥
सकति से नेह पकरि करि सुनति, यह नबदूं रे भाई।
जौर खुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कटि किन जाई॥
हौं तौ तुरक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिंदू रहिये॥
छांड़ि कतेब राम कहि क़ाजी खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झख मारी॥"

लोकसाहित्य और नृशास्त्र

सत्यव्रत सिनहा

मेरे विचार से लोकसाहित्य का अध्ययन करने के पूर्व लोकसाहित्य और नृशास्त्र के अन्तर को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। प्रारम्भ में ही हमें इस सत्य को स्वीकार कर लेना होगा कि नृशास्त्रियों ने ही हमारा ध्यान 'लोकसाहित्य' की ओर आकर्षित किया है। और जब एक नृशास्त्री कहता है कि वस्तुतः लोकसाहित्य तो नृशास्त्र के एक अंग 'सांस्कृतिक नृशास्त्र' (कल्चरल एंथ्रोपॉलॉजी) से सम्बन्ध रखता है तो उसके कथन को समझ लेना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है।

नृशास्त्रियों के कथनानुसार 'सांस्कृतिक नृशास्त्र' के अन्तर्गत रीतियाँ, परंपराएँ और मानव द्वारा निर्मित सामाजिक संस्थाओं आदि का अध्ययन किया जाता है। यद्यपि इसके साथ ही नृशास्त्री यह भी स्वीकार करता है कि केवल 'सांस्कृतिक नृशास्त्र' उनके अध्ययन का प्रधान विषय नहीं है। वे तो आदिम जातियों की शरीर-रचना, उनकी दिन-चर्या, खेती-बारी, शिकार, उनकी संस्कार-प्रक्रियाएँ, कौटुम्बिक सम्बन्ध, पूजा-पाठ, शकुन-अपशकुन, निसर्गसम्बन्धी धारणाएँ और इसके साथ ही आदिम जातियों के हथियार, औजार, कलाकृतियाँ, नृत्य एवं संगीत आदि का विस्तृत अध्ययन करते हैं। नृशास्त्रियों के इस क्षेत्र के अध्ययन के विषय में कोई दो मत नहीं हो सकता। परन्तु जब वह 'सांस्कृतिक नृशास्त्र' शब्द को सामने रख कर यह कहता है कि लोक-साहित्य अपने में एक संपूर्ण विषय नहीं है, अपितु एक अंग मात्र है, तो लोकसाहित्य का अध्येता अपने को द्विविधाजनक स्थिति में पाता है। 'सांस्कृतिक नृशास्त्रियों' का तर्क है कि 'संस्कृति' शब्द का तात्पर्य है 'सामाजिक परम्परा' अथवा 'किसी समाज द्वारा निर्मित वातावरण'। उसकी व्याख्या को किंचित् विस्तृत करते हुए वह कहता है कि मानव के वे समस्त कार्य-व्यापार जो किन्हीं मान्यताओं के आधार पर क्रमशः अनुभव-ज्ञान द्वारा विकसित होते जाते हैं, वही संस्कृति है। और इसके साथ ही वह यह भी कह देता है कि एक लोककथा या एक कहावत भी उसी संस्कृति का अविभाज्य अंग है, क्योंकि वह लोककथा या कहावत उसी संस्कृति को व्यक्त करती है। इतना ही नहीं, वह खुली चुनौती देते हुए कहता है कि 'लोकसाहित्य' के विद्वान् केवल लोककथाओं, लोकगाथाओं, लोकगीतों, पहेलियों, कहावतों एवं लोक-कला के अध्ययन को प्रस्तुत करते हुए लोक-सङ्गठन, लोकरीति, लोक-धर्म, लोक-संस्कार, लोक-विश्वास, लोक-औषधि आदि विषयों को छोड़

देते हैं, जबकि इन सबको सम्मिलित किए बिना किसी जाति या समाज की संस्कृति को पूर्णरूपेण नहीं समझा जा सकता। इसी संदर्भ में नृशास्त्री लोकसाहित्य के विद्वानों के इस कथन का भी खंडन करता है कि समस्त मौखिक साहित्य लोकसाहित्य है। वह कहता है कि यह सत्य है कि लोकसाहित्य का आधार मौखिक है, परन्तु यह सत्य नहीं है कि जो कुछ भी मौखिक है वह लोकसाहित्य है। क्योंकि जब नृशास्त्री किसी जाति के अध्ययन को प्रारम्भ करता है तब उसके लिए इस तथ्य का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उस जाति का वाङ्मय क्या है और उसकी तुलना में उस जाति-विशेष का लोक-साहित्य क्या है ? ऐसी स्थिति में लोकसाहित्य और नृशास्त्र की विभाजक रेखा कहाँ है, यह निश्चित करना एक कठिन समस्या बन जाती है।

मेरे विचार से इस समस्या को सुलझाने के लिए एक दूसरे पहलू से देखना होगा। यदि हम कहें कि 'लोकसाहित्य' किसी समाज अथवा जाति की आन्तरिक सौन्दर्य (एस्थेटिक्स) की अभिव्यक्ति मात्र है, तो समस्या कुछ सुलझती-सी दिखाई पड़ती है। इस कथन को और भी स्पष्ट करने के लिए हमें आधुनिक युग के सांस्कृतिक मानदण्डों का सहारा लेना पड़ेगा। हम यह भलीभाँति जानते हैं कि आधुनिक संस्कृति के निर्माण में विज्ञान, अर्थशास्त्र, सामाजिक एवं राजनीतिक सङ्गठन, धर्म तथा कला आदि का सामूहिक प्रयत्न है। इस तालिका की अन्तिम संज्ञा 'कला' पर थोड़ा विचार कर लें तो प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ निकालने में आसानी होगी। 'कला' एक व्यापक शब्द है। भारतीय विचारकों ने चौसठ ही नहीं अपितु इससे भी अधिक कलाओं की गिनती की है। परन्तु मोटे ढंग से इतना तो हम जानते ही हैं कि 'कला' के अन्तर्गत ही साहित्य, संगीत, चित्र, नृत्य आदि का समावेश है। कला के पारखियों अथवा आलोचकों की यह स्वीकृति है कि समस्त कलाओं का उद्भव 'लोक' से ही हुआ है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उस पुराकालीन 'लोक' में भी कुछ खोज निकालने की प्रवृत्ति, आर्थिक व्यवस्था, इहलोक-परलोक सम्बन्धी धारणाएँ तथा कलात्मक सूझबूझ में उस 'लोक' की आकांक्षाएँ, अनुभूतियाँ और नाना भावनाएँ व्यक्त हुई होंगी, और इस प्रकार उस लोक की संस्कृति बनी होगी। इस तरह विचार करने से हमारी अर्वाचीन संस्कृति की कड़ी अति प्राचीन युग से जुड़ जाती है, और हम यह कहने में समर्थ हो जाते हैं कि 'लोकसाहित्य' से हमारा तात्पर्य उन कलाओं से है जो मानव के आन्तरिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती रही हैं। वह 'कला' अपने प्रारम्भिक रूप में लोकसाहित्य, लोक-नृत्य, लोक-नाट्य एवं लोक-संगीत थी और आधुनिक युग में विकास पाकर वही 'कला' एक शास्त्रीय विषय बन कर उभर आयी है।

इसी प्रकार नृशास्त्रियों के इस कथन को कि समस्त मौखिक साहित्य, लोकसाहित्य नहीं है, हम किंचित् संशोधन के साथ स्वीकार कर सकते हैं। हमें यह भली-भाँति विदित है कि लोकसाहित्य का वर्तमान अध्येता आधुनिक संस्कृति का प्रतीक है, और जब वह लोकसाहित्य के उपकरणों पर दृष्टिपात करता है तो स्वभावतः आधुनिक संस्कृति के मानदंडों से उक्त जाति अथवा समाज के मानदंडों की तुलना करता है और

जब दोनों में तादात्म्य ही नहीं अपितु रागात्मक संबंध स्थापित हो जाता है, तभी वह बड़े प्यार एवं स्नेह से उस जाति अथवा समाज की आत्मा जहाँ मुखरित हुई है उन वस्तुओं को एकत्र करता है, और शेष उपकरणों को नृशास्त्रियों के लिए छोड़ देता है।

अब यदि नृशास्त्री यह कहें कि किसी जाति अथवा समाज के आन्तरिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति मात्र उसकी संस्कृति का पूर्ण परिचायक नहीं है तो हम लोकसाहित्य के अध्येताओं को चुप लगा जाना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि नृशास्त्री के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वह लोकसाहित्य को नृशास्त्र से केवल मोहवश अलग नहीं करना चाहता। सच बात तो यह है कि लोकसाहित्य के अध्येता का यह दावा ही नहीं है कि 'लोकसाहित्य' ही संस्कृति की संपूर्ण अभिव्यक्ति करता है। संस्कृति की अभिव्यक्ति अथवा विकास करने वाले उपकरणों में 'कला' के अतिरिक्त ऊपर निर्दिष्ट अन्य उपकरण भी हैं। अतः इस विषय पर तर्क का विस्तार करना वितण्डावाद के समान है।

मैं तो ऊपर के वादविवाद से एक कदम और आगे रखना चाहूँगा। मेरी तो निश्चित धारणा है, और अनुभव भी है, कि लोकसाहित्य का अध्येता आदिम जातियों के तथाकथित सांस्कृतिक जीवन से घनिष्ठ संबंध नहीं रखता। लोकसाहित्य का वर्त्तमान अध्येता—जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ—वर्त्तमान की संस्कृति से किसी जाति या समाज विशेष की संस्कृति की तुलना करते हुए तादात्म्य स्थापित करता है और उसी के फलस्वरूप वह लोकसाहित्य का सङ्कलन करता है। इस प्रकार से एकत्र किया हुआ लोकसाहित्य प्राचीन ही नहीं, अर्वाचीन संस्कृति की भी अभिव्यक्ति करता है। पाश्चात्य विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करें अथवा नहीं, परंतु भारतीय 'लोकसाहित्य' का अध्ययन करने वालों का यही अनुभव है कि हमारा 'लोक-साहित्य' संस्कृति की उच्चतम भावनाओं को अपनी अपरिष्कृत वाणी में सँजो कर रखता है। हमारा 'लोक' पाश्चात्य देशों का लोक नहीं है वरन् हमारे देश की समूची संस्कृति एवं सभ्यता 'लोक-संस्कृति' और 'लोक-सभ्यता' है। यह लोक संस्कृति और लोक-सभ्यता हमारे गाँवों और नगरों में थोड़े-बहुत बाह्य अन्तरों के साथ समान रूप से फैली हुई है। हमारा लोक-साहित्य आदिम को नहीं व्यक्त करता।

यहाँ एक आचोलक प्रश्न कर सकता है कि यदि भारतीय लोकसाहित्य सुसंस्कृत समाज का अंग है तो भारत की आदिम जातियों में प्राप्त गीतों, कथाओं, पहेलियों आदि को कौन-सी संज्ञा दी जावे? इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि आदिम जातियों के इस साहित्य को 'आदिम साहित्य' कह सकते हैं और यह कोई नई संज्ञा भी नहीं है। आदिम साहित्य (प्रिमिटिव लिट्रेचर) शब्द उनके यहाँ प्रचलित है। मूल बात तो यह है कि किसी भी देश की आन्तरिक चिन्ताधारा तीन रूपों में व्यक्त हुई है जिसे प्रिमिटिव (आदिम), फॉक (लोक) और क्लासिकल (शास्त्रीय) रूप कहा जाता है। निस्सन्देह अभिव्यक्ति का लोकरूप आदिम अवस्था से आगे की वस्तु है, और हमें तो वह शास्त्रीय

से अधिक जुड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। समझौते की दृष्टि से हम यह मान सकते हैं कि 'लोक' एक सन्धिस्थल है जहाँ आदिम और शास्त्रीय दोनों की झाँकियाँ देखने को मिल जाती हैं।

मेरे विचार से अब लोक-साहित्य और नृशास्त्र की विभाजक रेखा खोज निकालने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। लोकसाहित्य, समाज अथवा देश के आन्तरिक सौन्दर्य को संस्कृति के उच्चतम मूल्यों के साथ अपरिष्कृत वाणी में व्यक्त करता है और आदिम साहित्य प्रागैतिहासिक युग की धारणाओं, आकांक्षाओं आदि को प्रकाशित करता है। यहाँ यह पुनः कह देना असंगत न होगा कि लोक-साहित्य के अध्ययन का मार्ग-दर्शन कराने वाले नृशास्त्री ही हैं, अतः हम उनका आभार मानते हैं।

लोक-संकृति की विशालता

रामबालक शास्त्री

लोक-संस्कृति के उपासकों को भूरिशः धन्यवाद है, जिन्हों ने प्रयाग में 'अखिल भारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन' का यह महाधिवेशन करके इस राज्य के शिक्षित जनों को लोक-संस्कृति की व्यापकता से परिचित कराने का पुण्य प्राप्त किया है। लोक-संस्कृति की विशालता पर कुछ विचार करने के पूर्व संस्कृति के स्वरूप से पाठकों को अवगत करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। किसी समाज या देश की परम्परागत प्रवृत्ति एवं प्रकृति के आन्तरिक स्वरूप का दर्शन जिस विशेषता के द्वारा होता है वही उस समाज या देश की संस्कृति कही जा सकती है।

इस प्रसंग में इतना और कहना अनुचित न होगा कि हमारी संस्कृति विश्व की समस्त संस्कृतियों में सबसे अधिक प्राचीन, सबसे अधिक उदात्त एवं सबसे अधिक उदार है।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो विदित होगा कि भारतीय संस्कृति ही एक ऐसी विलक्षण संस्कृति है, जिसमें विश्व की समस्त जातियों को स्व-स्व-स्वरूपानुसार स्थान मिल सकता है। यही एक ऐसी लोकोत्तर संस्कृति है, जिसमें सभी प्रकार के मानव-समाज का समावेश हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति निरामिष हो तो वैष्णव समाज में, यदि सामिष हो तो शाक्तसमाज में, स्थान पा सकता है। यदि वह ऊर्ध्वपुंड-चन्दन करना चाहे या भस्म का त्रिपुण्ड लगाना चाहे, शिखा-सूत्र रखे या वाममार्गी बनकर शिखा-सूत्र से ही विहीन नहीं प्रत्युत विधि-निषेध से भी परे होकर रहे तो भी वह भारतीय है। उसका भारतीय संस्कृति में स्थान है।

भारतीय संस्कृति में पाषाण से लेकर मृत्तिका और गोमय तक में देवत्व का दर्शन होता है, सूकर, कुक्कुर से लेकर गौ, वृषभ, अश्व, अजा तक की पूजा करने का इस संस्कृति में विधान है। गूलर से लेकर आम्र, पीपल, वट प्रभृति जैसी वनस्पतियों की पूजा का अनुष्ठान होता है। ईश्वर को मानने वाला तथा ईश्वर को न मानने वाला भी हिन्दू है और भारतीय संस्कृति में उसका भी वही स्थान है जो स्थान किसी वैष्णव, शैव को प्राप्त है। ईश्वर की व्यापकता, विशालता की ऐसी उपासना विश्व के किस कोने में किस जाति या किस संस्कृति में उपलब्ध है? इस प्रकार विचारपूर्वक देखने से स्पष्ट रूप से भारतीय संस्कृति की विशालता एवं उदारता प्रकट होती है।

हमारे जीवन को उज्ज्वल एवं उदात्त बनाने वाले साधनों में सबसे बढ़कर और सबमें प्रबल साधन है हमारा संस्कार-समुच्चय। हमारे जन्मकाल से लेकर मरणकाल तक के समस्त संस्कारों के जितने क्रिया-कलाप हैं, वे सभी वेद-शास्त्र विहित हैं, जो वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ विद्वानों के लिये ही बोधगम्य हैं। उनके स्वरूप का परिज्ञान सामान्य जन के लिए स्मृति-पुराणों द्वारा ही सम्भव है। पर जो लोग पुराण आदि को भी नहीं जानते, उनको भारतीय संस्कृति के सच्चे स्वरूप के दर्शन करने में महती कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है। किन्तु ऐसे लोगों के लिए भी हमारा लोकसाहित्य सर्वाधिक हितकर एवं उपयोगी है। इस लोक-साहित्य के प्रत्येक अंग वाद्य से लेकर काव्य, नृत्य, गीत तक में हमारा वही प्राचीन रूप विद्यमान है। हमारा लोक-साहित्य अभी तक अक्षुण्ण बना हुआ है। वर्तमान काल में उसपर कालचक्र का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ने पाया है। वह भी इसीलिए कि पाश्चात्य संसर्ग का दूषित प्रभाव उसपर आज तक नहीं पड़ सका है। अतएव भारतीय संस्कृति का विशुद्ध स्वरूप आज हमें लोक-साहित्य में ही दृष्टिगोचर होता है। जैसे दुग्ध के भीतर घृत का अन्तर्भाव रहता है और मन्थनोपरान्त ही उसका स्पष्ट दर्शन होता है, उसी प्रकार लोक-साहित्य के द्वारा प्रस्फुटित लोक-संस्कृति भारतीय संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट दर्शन कराती है।

यह लोक-संस्कृति उसी शास्त्रीय संस्कृति का प्राकृत रूप है। वन की निःसर्ग सुषमा, एवं उद्यान की रमणीयता में जो अन्तर होता है, वही अन्तर लोक-संस्कृति एवं शिष्ट संस्कृति के बीच समझना चाहिए।

आज हमारी मनोवृत्ति ऐसी दुर्बल एवं दुर्मुख हो गयी है कि वह किसी विषय के अन्तस्तल में प्रवेश न कर ऊपर ही ऊपर देखती और इधर-उधर का ही चिन्तन करती है। यही कारण है कि हम अपनी संस्कृति की पावन आत्मा का साक्षात्कार करने की आवश्यता नहीं समझते। और उसके बाह्यरूप पर ही आकृष्ट होकर रसमग्न हो जाते हैं। वस्तुतः संस्कृति का प्राण है चरित्रबल। शिवगत इकार के निकल जाने से अवशिष्ट अंश 'शव' निष्प्राण और निस्तत्त्व हो जाता है। उसी प्रकार संस्कृति या उसके उपासक में से चरित्र के निकल जाने से वह निर्बल एवं निन्द्य बन जाता है। हमारी संस्कृति के वाहन काव्य, नाटक, गीत आदि के रचयिताओं में भी क्रमशः चरित्र का अभाव होता गया, जिसकी प्रतीति स्वतन्त्र भारत में भी आज हो रही है।

किन्तु हमारी संस्कृति की द्वितीय शाखा लोक-संस्कृति कमण्डलु में सुरक्षित गंगोत्री के पावन गंगा-जल की तरह आज भी निर्मल, विशुद्ध और अमृत है, उसमें कालगत, देशगत, पात्रगत किसी प्रकार की भी मलीनता नहीं आने पाई है। इसका एकमात्र कारण है लोक-साहित्य का नगरों से दूर-सुदूर ग्रामों की प्रकृति देवी के अंचल में संरक्षण। सच तो यह है कि लोक-गीतों के अविरल प्रवाह में वहाँ के ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के मुख से अपनी संस्कृति का स्वरूप सुनकर उसमें अवगाहन करने का अवसर मिलता है। यहाँ उन गीतों की कतिपय बानगी में लोक-संस्कृति का यथार्थ स्वरूप देखकर कोई भी सहृदय आनन्दविभोर हुए बिना नहीं रह सकता। जैसे—

"पहिल सगुनवा दहि माछरि रे।
तब रे भेंटारल पान सगुनवा भल पाइल लगनिया अकुताइल॥"

दही और भेंटी (डण्ठल) वाला पान जहाँ हमारे शास्त्रीय अनुष्ठान का साधन है, वहाँ मत्स्य-दर्शन भी शुभ शकुन का प्रतीक है। इस गीत में उसका कितना सुन्दर सन्निवेश है। पूजन में भेंटी-वाले पान का ही विधान है। उपनयन के लिए महिला अपने वरणीय बालक को कैसा मार्मिक उपदेश करती है, यह उपनयन के एक गीत में सुनिए—

"ऊँचे-ऊँचे पोखरवा रे बरुवा, नीचे-नीचे घाट।
तहँवा पंडित रे बरुवा करेला असनान॥
धोतिया फिंचीह रे बरुआ चलिह जाटा रे झारि।
जाइ के बैठिह रे बरुवा बूढ़ें बाबा के दुआरि॥
ऊहे तोहि के दीहें ए बरुवा नौगुनुआ जनेऊ।
तीन गुन जनेउवा ए बाबा भाटावा भिखारि॥
नौ गुन जनेउवा ए बाबा तोहरा के दीहैं बनाइ।"

इसमें आप देखेंगे कि तीन गुन का जनेऊ भटयानी क्षत्रिय और वैश्य के लिए और नौगुन का जनेऊ ब्राह्मण के लिए विहित प्रतीत होता है।

विवाहोत्सव का प्रारम्भ तिलकोत्सव की प्रक्रिया से प्रारम्भ होता है। उसमें धान-वितरण की विधि एक विशिष्ट महत्त्व रखती है। इस गीत में उसका कैसा सुन्दर चित्रण हुआ है। महिलायें तिलक दिए गए वर को चूमती हैं। एक स्त्री 'चूमती' है तथा दूसरी यह गीत गाकर आशीर्वाद देती है—

"साठि के चाउर लहालहि दूबि रे,
चूमहि बइठेली पंडितवा के धीय।
जत रे चूमेलि तत देली अशीस रे,
जियसु दुलहा दुलहिन लाख बरिस रे॥"

साठी का धान वर को एक अपूर्व आदर्श का ध्यान कराता है। यह सही है कि धान से भूसी के पृथक् हो जाने पर चावल महँगा बिकता है और भूसी को कोई पूछता तक नहीं। यहाँ भूसी से चावल अधिक मूल्यवान् सिद्ध होता है। पर जब भूसी का चावल से संयोग था, तब वह एक धान एक नहीं, करोड़ों धानों को उत्पन्न कर सकता था। अब वह केवल पानी के साथ चूल्हे पर चढ़कर अपने अवसान की प्रतीक्षा कर रहा है। उसी प्रकार वर यदि कन्या का आदर करेगा, उसका संसर्ग करेगा तो उसके संयोग से वह धान की तरह न जाने कितनी सन्तानें उत्पन्न कर सकता है, यह मार्मिक भाव उस धान में अन्तर्हित है, जो हमारी संस्कृति का प्रतीक है और वह किस अपूर्वता से इस लोकगीत में इस गम्भीर भाव की अभिव्यंजना करता है।

विवाह के लिए प्रस्थित वर के दाँतों की उज्ज्वलता इस लोकगीत में दर्शनीय है—

"हँसी बोलऽ हँसी बोलऽ दुलहा भरत दुलहा।
आहो देखूँ प्रभु दन्तवा की ज्योतिया॥"

शास्त्रों में वर्णित 'ब्राह्मणस्य शुक्लाः के 'दन्ताः' की कैसी सुन्दर व्यंजना दन्तवा की ज्योतिया से होती है। बधू-निरीक्षण (गुरहत्थी) के समय महिलायें भसुर (भास्वर) द्वारा कन्या को 'ताग-पाट' प्रदान करने पर क्या कहती हैं और किस प्रकार कहती हैं, उसे ध्यान से सुनिए—

"ताग पाट पहिरावट बाड़े भवहि नीरेखत बाड़े।"

इस कविता में तागपाट पर विचार कीजिए। 'तागपाट' कपास का ही होता है। गर्मी में बोई जाती है। वर्षा और शीत को सहन करती है। वह गर्मी में चुनी जाती है, ओटी और धुनी जाती है, तब काती जाती है। इतना कष्ट सहन कर जैसे कपास गले का आभूषण बनती है, उसी प्रकार कन्या अपने पतिगृह में कपास की तरह कष्ट सहन करेगी तो परिवार की शोभा बनकर स्नेह का पात्र बनेगी। हमारा 'तागपाट' केवल आभूषण ही नहीं, बल्कि दाम्पत्य जीवन का सौभाग्य-सूत्र है जो भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक है।

इसी प्रकार कन्या को चूड़ी द्वारा शिक्षा दी जाती है। विवाह में जो चूड़ी कन्या पहनती है उसे 'सहनाई' चूड़ी कहते हैं। घर की सधवा स्त्री शुभ तिथि तथा शुभ घड़ी में पुरस्कार देकर चूड़िहारिन से चूड़ी लेती है। पुष्प अक्षत से पूजा करके, चूड़ी मंगल का प्रतीक समझ कर, सुरक्षित रखी जाती है। पर वही चूड़ी यदि फूट जाय तो उसका एक-एक कण चुन कर घर से बाहर कूड़े में फेंकते हैं। यह कन्या के लिए उपदेश है। अर्थात् कन्ये ! तुम चूड़ी पर ध्यान दो। जिस प्रकार चूड़ी किसी वस्तु की टक्कर से फूट जाने पर निकाल कर बाहर फेंकी जाती है उसी प्रकार परकीय संसर्ग में तुम्हारी भी ऐसी ही दशा हो सकती है। कितना सुन्दर मार्मिक उपदेश है। कितना अपूर्व जीवन का संकेत है।

भोजपुरी के लोक-गीत ऐसे अमूल्य उपदेशों से भरे पड़े हैं। इसी प्रकार लोक-गीतों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो ऐसी न जाने कितनी विलक्षण बातें निकल आवें, जिनसे हमारी संस्कृति की उपादेयता सिद्ध हो सकती है। बस एक और गीत की सरसता का आस्वादन पाठकों को करा कर यह निबन्ध समाप्त किया जाता है। किसी स्त्री का पति पटना गया हुआ है, वहाँ से पाँच रुपये उसने भेजे हैं। उस स्त्री के मुँह से उन रुपयों के सदुपयोग का उल्लेख सुनिये—

"पाँच रुपयिवा पिया पटना से भेजेला।
गहना गढ़ाऊँ कि खरीदौं जमींदारी।"

इस गीत में वह प्रोषितभर्तृका विचार-विमर्श करती है कि पति के प्रेषित ५ रुपये का क्या उपयोग किया जाय। गहना बनाऊँ या उससे जमींदारी खरीदूँ। इस गीत से उस समय के भारतवर्ष की आर्थिक सम्पन्नता का कितना हृदयावर्जक भाव अभिव्यक्त हो रहा है।

"धनि धनि पूर मथुरा धनि बादरी छाइ रे।
धनि धनि गौरा के पुरुष बर पाइ रे॥

धनि धनि गौरा के अभाग मूरख बर पाइ रे।
दखिन देश बरहँपुर जहाँ महादेव त रे॥
बकसर ऐसन अस्थान जहाँ रमरेखा घाट रे।"

इस गीत में किस प्रकार तीर्थस्थानों और वहाँ के देवताओं का वर्णन है। इस प्रकार यदि भोजपुरी के ही नहीं, सभी प्रान्तीय भाषाओं और उनके लोक-गीतों का संकलन किया जाय तो उनमें से लोक-संस्कृति के उज्ज्वल एवं विशुद्ध रूप का मधुर दर्शन हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति के जिन कतिपय निगूढ़ तत्त्वों एवं रहस्यों का परिज्ञान श्रुतियों, स्मृतियों के वाक्यों द्वारा नहीं हो सकता, उनका सहज बोध लोक-गीतों की स्वर लहरियों एवं भावबन्धों से अनायास हो सकता है। वस्तुतः इन लोक-गीतों के द्वारा पश्चिम की चकाचौंध एवं चाकचिक्य की ओर प्रवृत्त मोहान्ध जनों को पश्चिम से पूर्व की ओर ले जाने और उनको लोक-संस्कृति का मौलिक स्वरूप एवं मङ्गलमय आदर्श दिखाने और सिखाने में बड़ी सरलता हो सकती है।

संताल और उनका लोक-जीवन

डोमन साहु 'समीर'

मध्यम ऊँचाई, सुगठित शरीर, श्याम वर्ण, कुछ मटमैलापन लिये हुए, दीर्घ कपाल, चिपटी-सी चौड़ी नाक, काली-काली चमकीली आँखें—कभी-कभी कुछ भूरापन लिये हुए, काले-काले घुँघराले बाल, अपेक्षाकृत मोटे-मोटे होंठ और छोटी-छोटी, इनी-गिनी दाढ़ी-मूँछें—साधारणतः यही हमारे देशवासी सन्तालों का शारीरिक परिचय है। उन्हें एक बार सिर से पाँव तक निहारते ही कुछ ऐसा भान होगा कि वे कठिन शारीरिक श्रम में सधे हुए हैं, चाहे वह श्रम अपने लिए किया गया हो या अपने पड़ोसी किसी गृहस्थ के लिए। शारीरिक गठन में सन्ताल-स्त्रियाँ भी कुछ ऐसे ही रंग-ढंग, ऐसे ही आकार-प्रकार की होती हैं। प्रसिद्ध नृतत्व-शास्त्रियों ने इन लोगों को आस्ट्रिक यानी आग्नेय वंशी माना है। हमारे देश में ये लोग 'मुण्डा कुल' की सन्तति हैं। सन्ताल, मुण्डा, हो, खड़िया, बिरहोड़ आदि जन-जातियाँ इसी कुल में आती हैं।

सन्ताल जनपद

सन्तालों की कुल जनसंख्या इस देश में लगभग ३० लाख है। देश-विभाजन के बाद पूर्वी पाकिस्तान में भी कुछ सन्ताल रह गये हैं। इन लोगों की आबादी तो बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा और आसाम में लाखों की संख्या में है, परन्तु सबसे प्रमुख सन्ताल-जनपद बिहार राज्य का 'सन्ताल परगना' जिला ही है। यहाँ इनकी जन-संख्या आठ लाख यानी इस जिले की कुल जनसंख्या का ३४ प्रतिशत के करीब है।

बिहार का यह 'सन्ताल परगना' जिला २३.४०' और २५.१८' उत्तरी अक्षांश तथा ८६.२८' और ८७.५७' पूर्वी देशान्तर रेखाओं के बीच पड़ता है। इसका क्षेत्रफल ५,४५२ वर्ग मील है और १९५१ की जन-गणना के अनुसार, यहाँ की कुल जनसंख्या २३,२२,०९२ है जिसमें सन्ताल, पहाड़िया, माहले, कोडा, कोल आदि विभिन्न जातियों के लोगों की संख्या १०,३७,१६७ शामिल है। इस जिले के उत्तर में गंगा तथा दक्षिण में अजय, बराकर आदि नदियाँ हैं। जिले के बीचोंबीच १,३३८ वर्ग मील का एक सुरक्षित क्षेत्र है, जो 'दामिन-ई-कोह' कहलाता है। सन्तालों की आबादी अधिकांशतः उसी क्षेत्र में है।

परन्तु, सन्ताल लोग 'सन्ताल परगना' के बहुत पुराने निवासी हैं, ऐसी बात नहीं है। सच तो यह है कि इस जिले का पुराना नाम 'जंगल तराई' था। संतालों का प्रवेश

अधिकांशतः १७९० और १८१० ई० के बीच यहाँ हुआ। बाद में १८५५-५६ ई० में यहाँ के संतालों ने ब्रिटिश शासन से छुटकारा पाने के लिये एक भीषण विद्रोह किया और उसके बाद से ही इस जिले का नाम 'सन्ताल परगना' कर दिया गया।

जो हो, सन्ताल परगना जिले का वक्षःस्थल जंगलों और पहाड़ों से भरा हुआ है। इसके उत्तरी छोर से दक्षिणी छोर तक 'राजमहल की पहाड़ियाँ' इसकी रीढ़ के समान फैली हुई हैं। छिट-फुट पहाड़ियाँ भी यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं तथा पहाड़ियों की तराइयाँ और घाटियाँ जंगलों से पूर्ण हैं। मिट्टी यहाँ की पथरीली है जिसमें सखुए, महुए, केंद, आम, कटहल, मुर्गा, पलाश आदि के पेड़-पौधे और धान, मकई, मड़ुआ, कोदों, कुल्थी, सिसुआ, सरसों आदि अनाज अधिकतर हुआ करते हैं। जंगली पशु-पक्षियों में बाघ, भालू, सियार, लकड़ा, हरिण, खरगोश, मोर आदि मुख्य हैं। कुल मिलाकर सन्ताल परगना को 'प्रकृति का क्रीड़ागार' कहें, तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

सन्ताल जाति

प्रकृति के ऐसे ही क्रीड़ागार में हमारे देशवासी सन्तालों का सरल जीवन बीतता आ रहा है। सही है कि ये लोग एक जनजाति के लोग हैं, परन्तु, सच पूछें तो, इन्होंने अब काफी प्रगति कर ली है। कहा जा सकता है कि अब ये अपने 'जन-जीवन' की अवस्था से ऊपर उठकर एक 'जातीय जीवन' की अवस्था में प्रवेश कर रहे हैं। किसी समय शिकार और जंगली फल-मूलों पर ही इन लोगों का जीवन भले ही बीतता रहा हो, परन्तु अब तो इन्होंने 'मिट्टी से लड़ना' सीख लिया है। कृषि इन लोगों का प्रथम, प्रमुख पेशा है। जंगल साफ करने, मिट्टी काटने, बाँध बाँधने, हल जोतने, खान खोदने आदि में ये लोग बड़े दक्ष होते हैं। वस्तुतः शारीरिक श्रम इनकी जातीय संपत्ति है। इनका दूसरा प्रमुख पेशा मजदूरी करना है। सच पूछें तो, लगभग ९५ प्रतिशत सन्ताल खेती और मजदूरी के द्वारा ही जीवनयापन करते हैं। बाकी लोग नौकरी—अधिकतर सरकारी नौकरी, करते हैं। शिकार तो अब नाममात्र को रह गया है। अब तो सन्तालों में अच्छे-अच्छे गृहस्थ भी होने लगे हैं। धान, मकई, मड़ुआ, बाजरा, अरहर, कुल्थी, सरसों, मिरचाई, कोदों आदि इनकी खेती की प्रमुख उपज, तथा गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, सूअर, मुर्गी, कबूतर, बत्तख आदि इनके प्रमुख पालतू पशु-पक्षी हैं। यह सही है कि ये लोग यदा-कदा गो-मांस-भक्षण भी करते हैं, परन्तु गो-वध नहीं करते। इनके लोक-गीतों एवं लोक-कथाओं में गौओं के प्रति बड़ी पवित्र भावनाएँ व्यक्त की गई हैं, पर्व-त्योहारों में गौओं की पूजा होती है, उनकी आराधना की जाती है। हाँ, ये लोग दूध-दही पर उतना ध्यान नहीं देते। ऐसे भी उदाहरण मिले हैं जहाँ गाय का सब दूध उसके बछड़े के लिए ही छोड़ दिया जाता है।

संक्षेप में कहें तो, सन्ताल एक परम्पराप्रिय, प्रगतिशील, कृषिजीवी जाति के लोग हैं। वस्तुतः, युगों की क्षुधा, पिपासा एवं उपेक्षा के निर्मम थपेड़ों को सहन करते हुए इन्होंने अपने लोक-गीत, लोक-कथा, लोक-भाषा और लोक-संस्कृति के रूप में जिस

खूबी के साथ अपनी जातीय परम्पराओं को अक्षुण्ण रखा है वह कम महत्वपूर्ण बात नहीं है। साथ ही, आज की इस प्रगति के युग में भी वे सोये नहीं हैं। क्या शिक्षा, क्या राजनीति, क्या शासन, क्या अर्थनीति—सभी क्षेत्रों में ये लोग बड़ी तेजी के साथ आगे आ रहे हैं। आज इनकी भाषा को विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में स्थान भी मिल गया है, आज उसमें विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगी हैं। भीख न माँगना, मेहनत से न भागना, धोखा न देना, आदि सन्तालों के जातीय गुणों में से हैं। यहाँ तक कि इनकी भाषा में भीख का पर्यायवाची कोई शब्द तक नहीं है। हाँ, कृषि और गो-पालन-सम्बन्धी जो शब्दावली इनकी भाषा में है, वह अधिकांशतः संस्कृत-हिन्दी मूल की है, जिससे पता चलता है कि इनके पूर्वज भारतीय आर्यों के निकट सम्पर्क में रहे हैं।

बस्तियाँ

सन्ताल लोग छोटे-छोटे गाँवों में रहते हैं जिन्हें ये अपनी भाषा में 'आतो' कहते हैं। इस 'आतो' शब्द का संस्कृत या हिन्दी के किसी गाँववाचक शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे पता चलता है कि सन्तालों के पूर्वज लोग भारतीय आर्यों से पहले से ही गाँवों में बसते आ रहे थे।

यह बात नहीं कि सन्तालों की बस्तियाँ यहाँ की अन्यान्य जातियों की बस्तियों से अलग हों। सही है कि ऐसी बस्तियाँ भी हैं जहाँ केवल सन्ताल लोग ही रहते हैं; परन्तु ऐसी बस्तियों की भी कमी नहीं जहाँ सन्ताल तथा अन्यान्य जातियों के लोग साथ-साथ रहते हैं। उदाहरण के लिये स्वयं इन पंक्तियों के लेखक का जहाँ गाँव है वहाँ १०-१२ घर सन्तालों के साथ-साथ हम २०-२५ घर अन्यान्य हिन्दू जातियों के भी हैं। इसी प्रकार मुसलमान लोगों के साथ भी इनकी बस्तियाँ बहुत हैं।

सन्तालों के 'आतो' सीधी कतारों में बसे होते हैं, जिनके दोनों ओर इनके छोटे-छोटे घर बने होते हैं और बीचोंबीच अच्छी खासी गलियाँ रहती हैं। उन्हें 'कुल्ही' कहा जाता है। प्रत्येक 'आतो' में एक 'जाहेर थान' और प्रत्येक 'कुल्ही' में एक 'माझी थान' का रहना सन्ताल-गाँवों की विशेषताओं में से है। ये 'थान' उनके पवित्र धर्म-स्थान हैं।

सन्तालों के घर, जिन्हें 'ओड़ाक्' कहा जाता है, साधारणतः मिट्टी की दीवारों और फूस के छप्परों के बने होते हैं। हाँ, अब खपड़ैल भी बनने लगे हैं। हमारे गाँव के १०-१२ में से दो सन्तालों के घर खपड़ैल के हैं। परन्तु, घर चाहे फूस का हो या खपड़ों का, उनकी सफाई और सुघड़ाई सराहनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी हुआ करती है। फूस के छप्पर बड़े कलापूर्ण ढंग से छाये जाते हैं। दीवारें बड़ी सुघड़ होती हैं; और गोबर-पानी या रंग-बिरंगी मिट्टियों से कलापूर्ण ढंग से लिपी-पुती रहती हैं। उनपर बाघ, भालू, मोर, हाथी, घोड़े, मनुष्य, नर्त्तक-नर्त्तकी आदि के भावपूर्ण *भित्ति-चित्र या मूर्त्तियाँ चित्रित की जाती हैं, जिनसे सन्तालों की कलाप्रियता का अच्छा परिचय प्राप्त होता है।*

प्रत्येक परिवार के पास साधारणतः एक ही घर हुआ करता है, जिसमें दो कोठरियाँ रहती हैं। भोजन बनाना, खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना—सब कुछ उस एक ही घर में होता है। हाँ, उस घर के साथ एक 'ढाबा' यानी बरामदा और एक 'टाचा' यानी आँगन अवश्य रहता है। वे घर की खटिया-मचिया रखने, आये-गये लोगों के उठने-बैठने, पानी के घड़ों को रखने आदि के काम आते हैं। आर्थिक दृष्टि से कुछ अच्छे लोग अपने मवेशियों को रखने के लिए 'गोड़ा', भेड़-बकरियों के लिए 'गुदड़ी' और सूअरों के लिए 'सुकरी बाँड़ा' भी बनाया करते हैं।

धार्मिक मान्यताएँ

कई विदेशी विद्वानों ने सन्ताल लोगों को 'प्रेतवादी' कहा है तथा हिन्दुओं से भिन्न एक जाति के रूप में दिखलाने की चेष्टा की है। परन्तु, मुझे अपने बचपन से ही, जहाँ तक इनकी धार्मिक भावनाओं एवं मान्यताओं को समझने का मौका मिला है, मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि इन्हें 'प्रेतवादी' कहना यथार्थ नहीं है। भला, जिस जाति की धार्मिक भावनाएँ आरम्भ से ही आचरण की शुद्धता पर आश्रित हों, जिसकी धार्मिक मान्यताएँ 'माराङ ठाकुर', 'माराङ बुरू', 'मोंड़ेंको-तुरुइको', 'जाहेर एरा', 'गोसाईं एरा' आदि जैसी कल्याणकारी सार्वभौम, शाश्वत शक्तियों पर अवलम्बित हों, उस जाति को प्रेतवादी कैसे कहा जाय? यह दुःख का विषय है कि इनके प्राचीन इतिहास और संस्कृति पर अब तक सम्यक् प्रकाश नहीं डाला गया है। स्थानाभाव के कारण यहाँ सन्तालों के विषय में अधिक लिखना सम्भव नहीं, अतः उनके सम्बन्ध में मुख्य बातों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

सृष्टि के सम्बन्ध में विश्वास

सन्तालों की पौराणिक गाथाओं के अनुसार सृष्टि के आरम्भ के पूर्व सर्वत्र जल ही जल था; मिट्टी या मनुष्य कहीं नहीं थे। हाँ, सार्वभौम शक्तियों के रूप में 'माराङ ठाकुर' और 'सिञ बोंगा' तथा जीवधारियों के रूप में कछुआ, केंचुआ, केंकड़ा, मत्स्य, सर्प आदि जल-जन्तुओं का अस्तित्व अवश्य था। इनमें से 'माराङ ठाकुर' और 'सिञ बोंगा' की मान्यता क्रमशः 'परमेश्वर' और 'सूर्यदेव' के रूप में है। 'माराङ ठाकुर' के मन में सृष्टि की 'इच्छा' उत्पन्न हुई और उन्होंने जल के नीचे से मिट्टी उठाने का आदेश उन जल-जन्तुओं को दिया। इस पर बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के बाद कुछ मिट्टी पानी के ऊपर लाई गई और उसी से पृथ्वी की रचना हुई। फिर 'माराङ ठाकुर' ने उस पर तृणों एवं पेड़-पौधों की सृष्टि की तथा अपनी 'छाती की मैल' से 'हाँस-हाँसिल' नामक एक जोड़ा हंस-हंसिनी का निर्माण कर उनमें प्राण-प्रतिष्ठा की। कालान्तर में, उन्हीं पक्षियों के अंडों से पृथ्वी पर 'पिलचू हाड़ाम' और 'पिलचू बुढी' नामक प्रथम मानव-दम्पत्ति की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार सन्ताल लोग अपने को उसी सार्वभौम शक्ति की सृष्टि एवं उसी 'पिलचू' दम्पत्ति की संतति मानते हैं।

देवता सम्बन्धी विश्वास

सन्तालों का विश्वास है कि 'माराङ ठाकुर' यानी परमेश्वर प्रत्येक प्राणी को एक निश्चित सम्बल देकर इस पृथ्वी पर भेजते हैं और जब उस सम्बल की समाप्ति हो जाती है तब उसे यहाँ से चला जाना पड़ता है। आत्मा के सम्बन्ध में सन्तालों का यह विश्वास है कि वह वायु रूप में इस मृण्मय शरीर में निवास करती है और जब मृत्यु होती है तब शरीर से निकल कर भाग जाती है। इसलिए मृत्यु के समय ये लोग घर के सभी दरवाजों और खिड़कियों को खोल देते हैं ताकि आत्मा को निकल भागने में कोई रुकावट न हो।

देवी-देवताओं को सन्ताल लोग 'बोंगा-बुरू' कहते हैं। यह सही है कि इस 'बोंगा-बुरू' शब्द से भूत-प्रेतों का भी बोध होता है; परन्तु, 'माराङ बुरू', 'मोंड़ेको-तुरूइको', 'जाहेर एरा', 'गोसाईं एरा' आदि उपर्युक्त कल्याणकारी शक्तियों के लिए 'बोंगा बुरू' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है। इन देवी-देवताओं का स्थान 'जाहेर थान' है जो प्रत्येक सन्ताल-गाँव का प्रमुख धर्म-स्थान है। सन्तालों का विश्वास है कि गाँव का कुशल-मङ्गल इन्हीं देवी-देवताओं की कृपा पर निर्भर रहता है। अतः पर्व-त्योहारों के अवसर पर तो उनकी पूजा-अर्चा होती ही है, गाँव में हैजा, चेचक आदि बीमारियों का प्रकोप होने की आशंका होने पर भी उनकी आराधना की जाती है। देवी-देवताओं के आवाहन के लिये जो 'बाखेण' यानी मन्त्र पढ़े जाते हैं वे सात्विक भावों से ओतप्रोत होते हैं। उन्हें प्रसन्न करने के लिए मुर्गियों की बलि दी जाती है, 'हँड़िया' और जल चढ़ाया जाता है। 'हँड़िया' एक प्रकार को चावल की शराब है। वर्ष का प्रत्येक नया फल, फूल या अन्न इन देवी-देवताओं को चढ़ाया जाता है।

सन्ताल लोग अपने पितरों को भी मानते हैं। इनका विश्वास है कि परिवार का मंगल-कुशल पितरों की कृपा पर ही निर्भर करता है। इसलिए प्रत्येक पर्व-त्योहार के अवसर पर पितरों की अर्चना की जाती है। इन लोगों का दूसरा मुख्य धर्म स्थान 'माँझी थान' है जहाँ माँझी यानी गाँव के मुखिया के पितर संस्थापित रहते हैं। पितरों और देवी-देवताओं के प्रतीक साधारणतः चिकने, गोल पत्थर और सिंदूर हुआ करते हैं।

हाँ, 'बड़िच् बोंगा' यानी भूत-प्रेतों और डाइनों पर भी इनका अत्यधिक विश्वास है। 'ये भूत-प्रेत और डाइन जान नहीं लेते, पर हैरान करते हैं।' इसलिए उनके प्रभावों को नष्ट करने के लिए तरह-तरह के मन्त्र-तन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। डाइनों के उपद्रवों से लोगों की रक्षा 'जान गुरु' और 'ओझा' करते हैं जो तरह-तरह के जादू-टोना जानते हैं।

पर्व-त्योहार

सन्तालों के त्योहारों में से 'एरोक्', 'हरियाड़', 'जान्थाड़', 'सोहराय', 'साकरात', 'बाहा', 'पाता' और 'छाता' मुख्य हैं। इनमें से अधिकांश कृषि-सम्बन्धी त्योहार हैं। 'एरोक्' धान बोये जाने के समय, 'हरियाड़' धान के पौधों के हरे-भरे हो जाने पर,

'जान्थाड़' उन पौधों में बालियाँ लगने पर, 'सोहराय' धान पकने पर और 'बाहा' जंगल में फल-फूलों के लगने पर मनाया जाता है। 'पाता' इन लोगों का पूर्णतः सात्विक त्योहार है। उसमें 'महादेव' की पूजा-भक्ति होती है। 'पाता' के अवसर पर मेले भी लगा करते हैं।

परन्तु, इन लोगों का सबसे मुख्य त्योहार 'सोहराय' है। यह दिवाली की श्रेणी का त्योहार है और पाँच दिनों तक चलता रहता है। पितरों और गायों की पूजा-अर्चा और जंगली जानवरों का शिकार करना इस त्योहार की मुख्य विशेषता है। इस त्योहार में गायों की पूजा-अर्चा में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं वे, वैदिक ऋचाओं की तरह, सात्त्विक भावों से भरे होते हैं। एक मन्त्र में गोमाता को सम्बोधित करके कहा गया है, 'देवि ! यदि कहीं बनों या खोहों में कोई तुड्‌क तुम पर आक्रमण करे तो वह अपने ही कुठार से स्वयं कट मरे, अपने ही बाण से स्वयं बिंध जाय।' वस्तुतः, 'सोहराय' त्योहार गो-रक्षा के पवित्र संकल्प का त्योहार है।

दूसरा प्रमुख त्योहार 'बाहा' है। इसे 'फूलों का त्योहार' कहा जाता है। यह होली की श्रेणी का त्योहार है और बसन्त ऋतु में ही होता है। जब तक 'बाहा' का त्योहार नहीं हो जाता तब तक जंगल के नये फल-फूलों, साग-पत्तों आदि को प्रयोग में लाना निषिद्ध है। इस त्योहार में मुख्यतः 'माराङ बुरू', 'मोंड़ेंको-तुरुइको' और 'जाहेर एरा' की पूजा-अर्चा होती है। पूजा के बाद नये फूलों का व्यवहार किया जाता है और शुद्ध जल से होली खेली जाती है।

सन्तालों का एक प्रमुख धार्मिक अनुष्ठान 'कराम' कहलाता है। यह यज्ञ की श्रेणी का अनुष्ठान है। इस अनुष्ठान को करने वाला भाग्यवान् समझा जाता है। इसमें 'करम' वृक्ष की पूजा होती है तथा सृष्टि की कथा कही जाती है। इस प्रकार इन लोगों की मौखिक परम्परा को जीवित रखने के लिए 'कराम' एक प्रमुख साधन है। इनका विश्वास है कि प्रत्येक गृहस्थ को जीवन में कम-से-कम एक बार 'कराम' अवश्य करना चाहिए।

जातीय संस्कार

जन्म से मृत्यु तक सन्तालों के कई जातीय संस्कार भी हैं। जिनमें 'छठियार', 'चाचो छठियार', 'सिका', 'खोदा', 'बापला' और 'भाण्डान' मुख्य हैं।

'छठियार' छट्ठी को कहते हैं। यह साधारणतः बच्चे के जन्म के तीसरे या पाँचवें दिन होता है। जब तक 'छठियार' नहीं हो जाता तब तक परिवार में 'छूतक' माना जाता है और तब तक घर में कोई शुभ कार्य नहीं होता है। इस अवसर पर एक छोटा-सा 'भोज' (दावत) होता है जिसमें गाँव के सभी बड़े-बूढ़े, स्त्री-पुरुष शामिल होते हैं। नीम के पत्तों के साथ 'सिझाई' हुई चावल की माँड़ी और हँड़िया को लोग बड़ी हँसी-खुशी के साथ पीते हैं और बच्चे-बच्चे को आशीर्वाद देते हैं। उसी हँसी-खुशी के वातावरण में नवजात शिशु का नामकरण होता है। उसे अपने पिता का गोत्र और दादा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची या मामा-मामी का नाम प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों कुल के नाम पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक सुरक्षित रहते हैं। साधारणतः पुरुषों के

नाम 'हाड़मा', 'बड़का', 'मतला', 'लोदगा', 'मेघराय', 'सिंगराय', 'रघु', 'जितू' आदि होते हैं और स्त्रियों के 'मुखी', 'मायनो', 'लुदगी', 'बाले'; 'दुलाड़' 'बड़की' आदि।

सन्तालों के गोत्र, जिन्हें 'पारिस' कहा जाता है, कुल १२ हैं—किसकू, सोरेन, हाँसदाक, हेमरोम, मुर्मू, मरण्डी, बासके, बेसरा, टुडू, चोंड़ें, पौड़िया और बेदिया। परन्तु, 'बेदिया' गोत्रवाले अब कहीं नहीं हैं। चोंड़ें और पौड़िया गोत्रवाले भी मुझे बिरले ही देखने को मिले। हमारे अपने गाँव में सिर्फ तीन गोत्र के सन्ताल हैं--किसकू, सोरेन और मुर्मू। सन्ताल समाज में गोत्र का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। सगोत्रीय यौन-सम्बन्ध सर्वथा वर्जित है। यदि कोई इसे तोड़े, तो उन्हें तत्काल 'बिटलाहा' यानी समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उसी प्रकार अन्यान्य जातिवालों के साथ यौन-सम्बन्ध भी इन लोगों में ग्राह्य नहीं है।

'छुठियार' के बाद 'चाचो छुठियार' यानी चूड़ाकरण संस्कार होता है। 'चाचो छुठियार' के बिना कोई भी व्यक्ति सन्ताल-समाज का सदस्य नहीं माना जाता। विवाह के पहले किसी भी समय 'चाचो छुठियार' का होना अनिवार्य है।

'सिका' और 'खोदा' सन्तालों के जातीय चिन्ह हैं। 'सिका' में हाथ के चमड़े को आग से जलाकर टीके की तरह एक, तीन या पाँच चिन्ह बना लिये जाते हैं। 'सिका' पुरुषों के लिये है। 'खोदा' गोदना को कहते हैं। यह स्त्रियों के लिए है। इन लोगों का विश्वास है कि जब तक 'सिका' या 'खोदा' न लिया जाय तब तक मृत्यु के बाद परलोक में प्रवेश नहीं हो सकता।

विवाह

'बापला' विवाह को कहते हैं। ये १०-१२ तरह के होते हैं। साधारणतः विवाह की बात एक 'रायबारिच्' यानी विवाह-वार्त्ता-वाहक के द्वारा दोनों ओर से तय की जाती है। वधू के लिए साधारणतः १२ रु० का 'गोनोङ पोन' यानी वधू-शुल्क और एक 'सारा डाँगरा' यानी 'साले का बैल' देना पड़ता है। विवाह के पहले वर और वधू को दोनों ओर से तिलकने की प्रथा भी है। तिलक में साधारणतः कपड़े, जेवर या पैसे पड़ते हैं।

विवाह में वर-वधू दोनों के यहाँ मँड़वा छाये जाते हैं; उसमें कलापूर्ण सजावट की जाती है। प्रतिदिन नाच-गान का रंग जमा रहता है। फिर, विवाह के दिन वधू के यहाँ ढोल, ढाक आदि बाजे-गाजों के साथ बरात आती है। हाँ, बरात का सारा व्यय साधारणतः वर-पक्ष को ही वहन करना पड़ता है; वधू-पक्ष उन्हें भोजन तक देने को बाध्य नहीं है! बरात पहुँचने पर गाँव के छोर पर उसका स्वागत किया जाता है। फिर, वर को गाँव के प्रत्येक गृहस्थ के दरवाजे पर 'गुड़' खिलाया जाता है। बाद में बारातियों को किसी पेड़ के नीचे आवास दिया जाता है।

विवाह साधारणतः दिन के तीसरे पहर में होता है। वधू को वर-पक्ष के चार नवयुवक, एक बड़े-से बाँस के 'दौड़े' में चढ़ाकर, उसके दरवाजे के सामने गली में उठा लाते हैं और उस 'दौड़े' को कन्धों पर थामे रहते हैं। एक दूसरा नवयुवक अपने कन्धे पर वर को भी उठाता है और उसी स्थिति में वर वधू के घूँघट को उठाकर उसके माथे में

सिन्दूर लगा देता है। सिन्दूर पड़ते ही सभी लोग 'हरिबोल' कह उठते हैं। बस, विवाह की मुख्य रस्म यहीं पूरी हो जाती है। उसके बाद वर-वधू को घर के अन्दर ले जाया जाता है और दोनों पक्षों के लोग वहीं गली में घन्टों नाचते-गाते रहते हैं।

विवाह के लिए सिन्दूर एक महत्वपूर्ण वस्तु है। अविवाहिता स्त्रियाँ, विधवाएँ या परित्यक्ताएँ सिन्दूर धारण नहीं करतीं। अविवाहिताओं के माथे पर सिन्दूर क्या, धूल तक डालना वर्जित है।

सन्तालों में विवाह के दिन साधारणतः फाल्गुन से जेठ तक हैं। शिवरात्रि अर्थात् 'महादेव-पार्वती के विवाह' से पूर्व सन्तालों में विवाह होने की प्रथा नहीं है।

एक प्रकार के विवाह को 'घारजवाँय बापला' कहते हैं। इसमें वर को ही वधू के घर पर रहना पड़ता है। इसमें वधू के लिए 'गोनोङ पोन' नहीं देना पड़ता। फिर, 'घरदी जावाँय बापला' है जिसमें वर को पाँच वर्ष तक अपनी ससुराल में रहना पड़ता है। इसमें भी 'गोनोङ पोन' नहीं लगता।

सन्तालों में तलाक और विधवा-विवाह की प्रथा है; परन्तु बाल-विवाह या अनमेल विवाह साधारणतः नहीं होते। मुझे अपने गाँव में अब तक एक भी बाल-विवाह या अनमेल विवाह देखने को नहीं मिला है। विवाह-सम्बन्ध से स्थापित हुए सम्बन्धों में पति या पत्नी के छोटे भाई-बहनों से हँसी-मजाक का रिश्ता है, परन्तु, बड़े भाई-बहनों को पूज्य समझा जाता है। सास-ससुर अपने माता-पिता की तरह पूज्य माने जाते हैं। हाँ, दादा-दादी या नाना-नानी के साथ हँसी-मजाक का ही रिश्ता रहता है।

'भाण्डान' सन्तालों का श्राद्ध-संस्कार है। इन लोगों में आदिकाल से मृतकों को जलाने की प्रथा चली आई है; परन्तु, आये दिन उनमें गाड़ने की प्रथा ही अधिकतर चलने लगी है। शव-संस्कार साधारणतः किसी जलाशय के किनारे किया जाता है। मृतक का उत्तराधिकारी उसके 'मुँह में आग' देता है। मृतक के साथ उसके निजी व्यवहार की सभी वस्तुएँ उसे 'सौंप' दी जाती हैं। उस सम्बन्ध में इन लोगों का विश्वास है कि परलोक में मृतक को उन वस्तुओं की आवश्यकता हुआ करती है।

चिता या कब्र उत्तर-दक्षिण बनाई जाती है। मृतक का सिर दक्षिण की ओर रखा जाता है। शव-संस्कार के बाद घाट पर गये हुए सब लोग नाऊ से बाल बनवा कर, नहा-धोकर घर लौटते हैं। फिर, तीन दिनों के बाद 'तेल नहान' होता है और सुविधानुसार कुछ दिनों के बाद 'भाण्डान'। 'तेल नहान' में तेल और खली के साथ नहा-धोकर मृतक का तर्पण किया जाता है और 'भाण्डान' में उसका श्राद्ध। 'भाण्डान' एक अनिवार्य कर्म है। जब तक 'भाण्डान' नहीं हो लेता, तब तक घर-गाँव अशुद्ध माना जाता है। इस स्थिति में किसी के यहाँ विवाह, उत्सव, त्योहार आदि कोई भी शुभ कार्य नहीं हो सकता। 'भाण्डान' में मृतात्मा की शान्ति का अनुष्ठान किया जाता है, सूअर और मुर्गियों की बलि दी जाती है और गाँव के लोगों तथा सगे-सम्बन्धियों को भोज दिया जाता है।

इन लोगों में मृतक का 'जाङ बाहा' अर्थात् 'अस्थि-पुष्प' बहाने की भी प्रथा है। बिहार की 'दामोदर' नदी इन लोगों की 'नाँई गाडा' यानी गंगा है। मृतकों के अस्थि-पुष्प इसी नदी में प्रवाहित किए जाते हैं। संतालों का विश्वास है कि मनुष्य की उत्पत्ति जल अर्थात् समुद्र से हुई है; अतः अंत में उसे जल में ही मिल जाना चाहिए। मृत्यु के बाद परलोक की कल्पना और पुनर्जन्म में विश्वास भी इन लोगों में पाया जाता है। लोक-कथाओं में इसका उल्लेख उपलब्ध होता है।

भाषा और साहित्य

संतालों की भाषा 'संताली' कहलाती है। यह इस देश की बहुत ही प्राचीन भाषा है। यद्यपि इस भाषा में अब संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अँगरेज़ी आदि भाषाओं के बहुत-से शब्दों का प्रवेश हो गया है, फिर भी यह भारत की आधुनिक भाषाओं से बिल्कुल भिन्न एक स्वतन्त्र भाषा है। यद्यपि इसका विकास अभी अधिक नहीं हुआ है, फिर भी यह काफी प्रगतिशील है। इस भाषा का साहित्य अभी पूर्णतः बाल्यावस्था में है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, अब तक छोटी-बड़ी २०–२५ से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन इस भाषा में नहीं हुआ है। इनमें से कुछ पुस्तकें इन पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखी हुई हैं। इस भाषा को बिहार और पश्चिम बंगाल की प्रवेशिका परीक्षाओं तक एक वैकल्पिक विषय के रूप में स्थान मिल चुका है तथा कई पाठ्य पुस्तकें भी प्रकाशित की जा चुकी हैं। इस समय इस भाषा में कुल छः पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, जिनमें से दो सरकारी हैं, दो ईसाई मिशनरियों की और दो अन्यान्य संस्थाओं की। इस भाषा की अपनी कोई लिपि नहीं है और यह विभिन्न राज्यों में देवनागरी, बँगला, उड़िया, रोमन आदि लिपियों में लिखी जा रही है, जिससे इस भाषा के विकास में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो सकती है। मेरे विचार से इस भाषा के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग ही सबसे अधिक उपयुक्त और कल्याणकर है और विगत १२ वर्षों से इस भाषा के एक प्रमुख समाचारपत्र का संपादक होते हुए मैंने अनुभव किया है कि यही लिपि सबके लिये समान रूप से उपयोगी हो सकती है।

लोक-गीतों, लोक-कथाओं और लोक-वार्ताओं के रूप में सन्ताली में अनन्त भाण्डार भरा हुआ है। उसके शोध, संग्रह एवं अध्ययन के लिये आज किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जिसके पीछे किसी विशाल संस्था की शक्ति हो।

जातीय संगठन

संतालों का सामाजिक संगठन बहुत ही मजबूत है। प्रत्येक गाँव में एक-एक जातीय पंचायत होती है, जिसके प्रमुख सदस्य 'माँझी', 'परानिक', 'जोग माँझी', 'जोग परानिक' और 'गोडेत' हैं। उसके ऊपर 'परगाना', 'देश माँझी' और 'चकलादार' की पंचायत है, और सबसे ऊपर 'लोबिर सेन्दरा बेसी' है।

राजनीतिक दृष्टि से संताल लोगों में अपेक्षाकृत अच्छी जागृति है, जिसका प्रमाण पिछले दो निर्वाचनों में मिल चुका है।

धर्म की दृष्टि से इस समय इन लोगों में तीन तरह के लोग हैं—'बोंगाहोड़', 'साफा होड़' और 'उम होड़'। 'बोंगाहोड़' सनातनी संतालों को कहते हैं, जिनकी धार्मिक भावनाएँ उनकी परम्परागत मान्यताओं पर आश्रित हैं। 'साफा होड़' सुधारवादी सन्तालों को कहते हैं, जिनकी धार्मिक भावनाओं का मूल सात्त्विक जीवन है। और 'उम होड़' ईसाई-सन्तालों को कहते हैं जो परिस्थितिवश ईसाई धर्म में दीक्षित हो गये हैं। कहना न होगा कि इस समय सन्ताली जनपद में विभिन्न देशों के अनेक ईसाई मिशनरी काम कर रहे हैं, जिनके प्रभाव में आकर सन्तालों के हजारों परिवार ईसाई हो चुके हैं। सन्ताली भाषा में रोमन लिपि का प्रयोग ईसाई मिशनरियों के द्वारा ही होता रहा है। हाँ, इतना अवश्य है कि सन्तालों के उपर्युक्त तीनों सम्प्रदायों में कोई धार्मिक कट्टरता नहीं है। जो आज 'उम होड़' हो गया है वही कल पुनः 'बोंगाहोड़' या 'साफा होड़' भी हो सकता है।

काश्मीरी (डोगरी) लोक-संस्कृति की परम्पराएँ

ओंकारसिंह गुलेरी

किसी जाति की स्वतन्त्र स्थिति और मान्यता के तीन आधार होते हैं। उस जाति का अखण्ड प्रदेश, निजी भाषा तथा मौलिक सांस्कृतिक परम्पराएँ। हमारी जातीयता के ये तीनों आधार नितान्त मौलिक और दृढ़ हैं।

डोगरी भाषा

हिमालय की हजारों मील लम्बी उपत्यका (दामन) में बसी हुई पर्वतीय जन-जातियों की बोलियों को भाषा-वैज्ञानिकों ने 'पहाड़ी-बोलियों' की संज्ञा देकर उन्हें निम्न तीन समुदायों में विभक्त किया है—

(१) पूर्वी पहाड़ी समुदाय, जिसमें नेपाली भाषा का स्थान प्रमुख है।

(२) मध्यम पहाड़ी समुदाय—इसमें गढ़वाली और कुमाऊँनी दो प्रमुख भाषाएँ हैं। गढ़वाली का केन्द्र 'श्रीनगर' को और कुमाऊँनी का केन्द्र 'अल्मोड़ा' को माना जाता है।

(३) पश्चिमी पहाड़ी समुदाय—गढ़वाल से आगे शिमला के पर्वतीय प्रदेश से लेकर रियासत जम्मू-कश्मीर में पुंछ तक—लगभग ·४०० मील का भू-भाग पश्चिमी पहाड़ी समुदाय की भाषाओं का क्षेत्र है। भौगोलिक दृष्टि से काङ्गड़ा तथा साहित्यिक चेतना की दृष्टि से जम्मू (रियासत की शरत्कालीन राजधानी) इसका प्रमुख केन्द्र है। डोगरी और पहाड़ी—इस समुदाय के दो प्रमुख रूप हैं। डोगरी इस ४०० मील लम्बे तथा १०० मील चौड़े भू-भाग की प्रमुख भाषा है—क्योंकि इस भू-भाग के चार भौगोलिक खण्डों में से तीन खण्डों में सामान्यतः डोगरी भाषा ही बोली जाती है। इस समुदाय की पहाड़ी बोलियों में वैसी एकरूपता नहीं है। दुर्गम पर्वत, यातायात के साधनों का अभाव, छोटी-छोटी घाटियों में बँधा हुआ सन्तुष्ट जीवन, इन्हीं कारणों से पहाड़ों की बोलियों में थोड़े-थोड़े अन्तर पर रूपभेद अखरने लगता है।

इसी पश्चिमी पहाड़ी समुदाय की बोलियों को बोलने वाले लोग ही डोगरा-पहाड़ी जाति के अंग हैं।

डोगरी बोली का प्रदेश होने से इस प्रदेश को आज सामान्यतया डुग्गर और इसके निवासियों को डोगरा कहा जाने लगा है। परन्तु पर्वतीय प्रदेशों के निवासियों के लिए डोगरा नाम प्रचलित नहीं है। इसीलिए हम अपनी जाति को डोगरा-पहाड़ी जाति कहते हैं।

डुग्गर नामकरण का कारण

महाभारत-कालीन उत्तरी भारत में त्रिगर्त (जालन्धर, होशियारपुर तथा काँगड़ा) नाम का जनपद था। इस प्रदेश को त्रिगर्त क्यों कहा जाता था, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। तीन झीलों, तीन गढ़ों, तीन नदियों के आधार पर यह नामकरण सम्भव हो सकता है। इस प्रदेश में कहीं तीन झीलों या गढ़ों की ख्याति न होने के कारण, तीन नदियों का आधार ही संगत प्रतीत होता है। प्राचीन काल की तीन नदियाँ—इरावती, विपाशा और शतद्रु थीं जो आजकल रावी, व्यास और सतलज के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं तीन नदियों की तीन घाटियों को 'त्रिगर्त' कहा गया हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। तत्कालीन भारतीय जनपदों—चेदि, मद्र आदि नामों की भाँति यह 'त्रिगर्त' संज्ञा भी अब लुप्त हो गई है। इसी त्रिगर्त प्रदेश के उत्तर-पश्चिम में महाभारत-कालीन इतिहास के अनुसार रावी और चिनाव के मध्य 'मद्र' देश था। उसके आगे चन्द्रभागा और सिन्धु के मध्य 'कैकय' देश था। चन्द्रभागा से ऊपर वितस्ता तक अभिसार (पुंछ) जनपद था। मद्र देश और अभिसार की सीमायें सम्भवतः मिलती थीं। जम्मू और काँगड़ा ही डोगरों की मुख्य निवास-भूमि है। लेकिन 'डुग्गर' नाम कहाँ से आया? चिरकाल तक विद्वानों को यह मान्य धारणा रही है कि 'डुग्गर' शब्द 'द्विगर्त' का अपभ्रंश रूप है। और मद्र देश के इस भाग का यह नाम 'त्रिगर्त' शब्द की अनुकृति पर पड़ा होगा। डोगरी क्षेत्र में दो ही प्रधान नदियाँ बहती हैं—एक रावी और दूसरी चिनाव। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि 'द्विगर्त' का आधार जम्मू प्रान्त में स्थित मणिसर और श्रीसर नाम की दो झीलें हैं। परन्तु निर्जन स्थान में स्थित इन दो झीलों के आधार पर इतने विस्तृत प्रदेश का नाम 'द्विगर्त' पड़ा हो यह कुछ समुचित नहीं प्रतीत होता।

पद्मपुराण (रचनाकाल ११–१२वीं शताब्दी) के पाताल खण्ड में जम्मू प्रान्त में देविका नदी के माहात्म्य का वर्णन किया गया है और उसके तटवर्ती शुद्ध-महादेव, परमण्डल आदि प्राचीन तीर्थों का वर्णन करते हुए इस भू-भाग को मद्र देश के अन्तर्गत ही कहा गया है।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि यह पर्वतीय प्रदेश कठिन मार्गों के कारण दुर्गम था। अतः इसी कारण इसे 'दुर्गढ़' कहने लगे होंगे और कालान्तर में यही शब्द 'डुग्गर' बन गया हो।

साझा प्रदेश अथवा सामान्य वास-भूमि

पूर्व में उत्तर प्रदेश के गढ़वाल जिले से, पश्चिम में रियासत कश्मीर के पुंछ प्रदेश की युद्ध-विराम रेखा तक, उत्तर में शैवालिक गिरिमाला और पीर पाञ्चाल की पर्वतमालाओं से विभक्त तथा दक्षिण में जम्मू प्रान्त की युद्ध-विराम-रेखा के साथ-साथ

पंजाब की तहसील पठान कोट, ऊना, के साथ-साथ पूर्वकालीन बिलासपुर राज्य की प्रादेशिक सीमा-रेखा तक—पश्चिमी पहाड़ी भाषा-समुदाय का क्षेत्र ही डोगरा-पहाड़ी जाति का प्रदेश है। इस प्रदेश की पंजाब से मिलती मैदानी पट्टी में, तथा इस मैदानी पट्टी के साथ-साथ लगभग २०–३० मील चौड़ी दूसरी 'कंडी' की पट्टी में और कंडी की पट्टी के ऊपर इसी के साथ-साथ चलने वाली लगभग इतनी ही चौड़ी पर्वतीय पट्टी में रहनेवाले लोग 'डोगरे' कहलाते हैं। शेष अधिक ऊँची पर्वता-मालाओं वाले दुर्गम प्रदेश की जनता को सामान्यतः पहाड़ी कहा जाता है—वैसे प्रदेश के नाम-भेद के अनुसार भी उनकी विशिष्ट संज्ञाएँ होती हैं—जैसे, खस, भद्रवाही, चम्ब्याली, आदि। पहाड़ी बोलियाँ भी प्रायः अपने प्रादेशिक नामों को लेकर ही चलती हैं। जैसे भद्रवाही, चम्ब्याली, मण्डयाली, चुटाही, पंगवाली, रुधारी, खसाली, पोआरी, मरमती आदि।

एक ही भाषा परिवार के अंग होते हुए भी ये अनेक नाम प्रादेशिक अखण्डता की कल्पना को किञ्चित् बिगाड़ते अवश्य हैं, परन्तु इन नामों की विविधता में केवल भूगोल ही कारण नहीं है, बल्कि उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण कारण रहा है इस प्रदेश का इतिहास।

प्राचीन काल में कभी यह प्रदेश एक अखण्ड इकाई रहा है या नहीं, इस सम्बन्ध में अधिकार के साथ कुछ कहना कठिन है। महाभारत-कालीन 'त्रिगर्त' प्रदेश का केन्द्र काँगड़ा को माना गया है। तत्कालीन जालन्धर जिले तक का प्रदेश भी इसी त्रिगर्त राज्य का अंश था। आज के जम्मू प्रान्त का अधिकतर मैदानी और नीची पहाड़ियों का प्रदेश प्राचीनकाल में मद्र देश कहलाता था। पद्म पुराण में भी इस प्रदेश का उल्लेख मद्र देश के अन्तर्गत ही किया गया है। महाभारत के बाद शताब्दियों तक का इस प्रदेश का इतिहास अज्ञात है। और जब से इतिहास के पद-चिह्न स्पष्ट होने लगते हैं तभी से यह तथ्य भी स्पष्टतर होता गया है कि पश्चिमी भाषा-परिवार का यह समस्त प्रदेश सदैव विभिन्न राज्य-खण्डों में विभक्त रहा है। केवल दो बार इस समस्त प्रदेश को एक राजनैतिक संघ के रूप में संघटित करने का सफल प्रयत्न किया गया, परन्तु इसका वह रूप चिरस्थायी नहीं रहा। पहली बार जम्मू के राजा मालदेव के पुत्र भीम-देव ने रावी के इस पार तथा उस पार के बाईस राज्यों को अपने बल और नीति से एकत्र संगठित किया था। मालदेव १४वीं शताब्दी में काँगड़ा प्रदेश में (जिसे उस समय नगरकोट भी कहा जाता था) भारत को लूट कर लौटती हुई तैमूर की मदमस्त विजय-वाहिनी से, धरती के मान को बचाने के हेतु, लड़कर धराशायी हुआ था।

दूसरा सफल प्रयास आज से लगभग २०० वर्ष पहले जम्मू के ही शासक रञ्जीत-देव ने किया था। इसका उल्लेख रञ्जीतदेव के समकालीन कवि दत्तु ने अपनी ब्रजभाषा की काव्य रचनाओं में तथा संस्कृत में लिखी प्रशस्तियों में किया है।

इन दो प्रयत्नों के पीछे भी मूल प्रेरणा जातीय ऐक्य की भावना थी अथवा राजनैतिक महत्वाकांक्षा की, यह निर्णय करना सहज नहीं है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि इस ऐक्य को तोड़ने वाले सामन्ती स्वार्थ सर्वदा प्रयत्नशील रहे होंगे।

तीसरा एक और अवसर आया था परन्तु तब भी जातीय ऐक्य की भावना न होने से शक्ति और नीति की धारा किसी दूसरी ओर मुड़ गई। जम्मू के छोटे-बड़े सामन्तों को अपने आधीन करके जम्मू-नरेश की उपाधि धारण करने वाला महाराजा गुलाब सिंह चाहता और प्रयत्न करता तो पश्चिमी पहाड़ी का यह समस्त प्रदेश शायद एक इकाई के रूप से संगठित हो जाता। परन्तु परिस्थिति उसे काश्मीर की ओर ले गई, और उसकी महत्वाकांक्षा को चरितार्थ करने वाले डोगरा वीर सैनिकों और जोरावर सिंह जैसे विख्यात सेनापतियों के कारण गुलाब सिंह ने रियासत की सीमाओं के रूप में भारत की सीमाओं को उत्तर में उस दूरी तक पहुँचा दिया जहाँ वे शायद ही कभी पहुँची थीं। गुलाब सिंह तथा उसके पुत्र श्री रणवीर सिंह ने यदि काश्मीर को उसकी उन महत्वपूर्ण उत्तरी सीमाओं के साथ अपने राज्य का भाग न बनाकर काँगड़ा और वर्तमान हिमाचल प्रदेश को बल से, नीति से अधिकार में कर लिया होता तो १६४७ की क्रांति में काश्मीर का वह प्रान्त अपनी उन सीमा-रेखाओं सहित पाकिस्तान का अंग न हो जाता।

डोगरों की वीरता ने अपने देश का अपूर्व कल्याण किया है, उसके गौरव में अद्वितीय वृद्धि की है।

प्रदेश का महत्व

डोगरा-पहाड़ी जाति का यह प्रदेश अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भी महत्व-पूर्ण है, क्योंकि यही प्रदेश भारत के उत्तरी सीमान्त का प्रहरी है। पाकिस्तान बन जाने के बाद से तो इसका महत्व और भी अधिक बढ़ गया है। पञ्जाब की पाँच नदियों में से जिन तीन नदियों के जल पर भारत का अधिकार है वे तीनों इसी प्रदेश को रक्त-शिराएँ हैं। इस प्रदेश की वन्य सम्पत्ति के कारण इसके तीनों खण्डों के शासन को, लाखों रुपयों की आय होती है। परन्तु इस प्रदेश का वास्तविक महत्त्व जिस खनिज-सम्पत्ति में निहित है वह अभी अधिकतर पृथ्वी के गर्भ में ही छिपी है। सर्वेक्षण-विशेषज्ञों ने उसके बारे में जो शोध किया है उसे देखकर यह आशा होती है कि नव-भारत के नव-निर्माण में हमारी यह भूमि अपनी कलात्मक देन के सदृश ही महत्वपूर्ण योग दे सकेगी। त्रिकूट पर्वत पर अवस्थित वैष्णव भगवती और काँगड़ा के गौरव की अधिष्ठात्री ज्वालाजी-मूलतः हमारे प्रदेश की उसी खनिज-सम्पत्ति के महत्त्व की प्रतीक दिव्यात्माएँ हैं। आज ज्वाला जी के क्षेत्र में मिट्टी का तेल मिलने की सम्भावनाओं को प्रत्यक्ष किया जा रहा है। जम्मू प्रान्त का यह त्रिकूट पर्वत जिसे भूगर्भवेत्ता चूने की दीवार कहते हैं, कोयले और लोहे के विशाल संग्रहों को अपने गर्भ में छिपाए हुए है। अब समय आ रहा है जब देश अपने हित के लिए इस सम्पत्ति को प्रयोग में लाने का यत्न करेगा। तब अवश्य ही मेरे देश की परिश्रमशील जनता को भी अपने उस वैभव का यत्किञ्चित् अंश मिलेगा ही। यह समस्त प्रदेश सैलानियों का स्वर्ग कहलाता है। जम्मू में कुद-बटोत-भद्रवाह; हिमाचल में चम्बा, शिमला हिल्ज, काँगड़ा में डलहौजी, धर्मशाला, पालमपुर, कुल्लू आदि पर्वतीय प्रदेश अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण उत्तरी भारत के हिल-स्टेशनों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उत्तरी भारत में काँगड़ा अपने चाय के बागों के लिए प्रसिद्ध है।

ये सभी सुहावनी सम्भावनाएँ जिस धरती से वाबस्ता हैं—उसकी अपनी सन्तान युगों-युगों से दरिद्रता, अज्ञान, रोग और हीनभाव के विषैले वातावरण में जीवन का भार ढो रही है।

सांस्कृतिक परम्परा

डोगरा-पहाड़ी जाति के विषय में इन तथ्यों के इस संक्षिप्त परिचय के अनन्तर स्वभावतः इस जाति की सांस्कृतिक परम्पराओं के विषय में जिज्ञासा होती है।

किसी भी जाति की सांस्कृतिक परम्पराओं के विकास पर उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक दशाओं का सीधा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक कठिनाइयाँ, राजनैतिक अनिश्चयात्मकता या अव्यवस्था, सामाजिक रूढ़ियों तथा अन्ध-विश्वासों की जड़ता—ऐसी बातें हैं जो जन-जीवन के समुचित विकास में उग्र रूप से बाधक होती हैं। डोगरा-पहाड़ी जाति के जीवन में ये सभी बाधायें बड़े उग्र रूप से विद्यमान रही हैं और आज भी हैं।

पहली बाधा है हमारी वास-भूमि का राजनैतिक त्रिखण्ड विभाजन—इस जाति की एक तिहाई जनता जम्मू-काश्मीर राज्यान्तर्गत जम्मू प्रान्त में है; एक तिहाई पञ्जाब के काँगड़ा-कुल्लू प्रदेश में, बाकी हिमाचल प्रदेश के चम्बा खण्ड तथा शिमला खण्ड में स्थित है। यह तीनों प्रदेश एक प्राकृतिक भौगोलिक इकाई हैं, परन्तु सदियों तक इसी दीन, शोषित, परतन्त्र जीवन में रह कर, इन तीनों खण्डों के, इन कृत्रिम बन्धनों से मुक्त करके, अपने विकास तथा गौरवमय जीवन के मार्ग की इस बाधा को दूर करने की भावना लोगों में नहीं जगी है।

दूसरी बाधा है इन तीनों खण्डों में विभक्त इस जाति का दयनीय आर्थिक जीवन। इन तीनों खण्डों में यह जाति १९४७ तक दोहरी गुलामी के पाटों में पिसती रही है—एक पाट था विदेशी प्रभुता का और दूसरा स्वदेशी सामन्तशाही का, जिसने इस शोषण में पड़ोसी प्रदेशों के सम्पन्न व्यापारियों, तथा दूसरी तरह के शोषक तत्वों से समझौता करके उन्हें भी इस प्रदेश की निरीह जनता को लूटने की खुली-छुट्टी दे रखी थी। देश की स्वतन्त्रता से इस जाति को अब सामन्ती शासन के कारागार से मुक्ति मिली है। हमारा वाणिज्य-व्यापार, खनिज सम्पत्ति, उद्योग-धन्धे, वकीली, डाक्टरी, ठेकेदारी, बड़ी नौकरियाँ, सभी पर के ८० प्रतिशत पर ये विजातीय तत्व कायम हैं।

हमारे जातीय जीवन के विकास में तीसरी बाधा है हममें ऐक्य भावना का अभाव और उत्तरोत्तर बढ़ने एवं पनपने वाली हीन-भावना। इनके अतिरिक्त पहाड़ी जीवन की अनेक दूसरी सामान्य कठिनाइयों से भी इस जाति का जीवन आक्रान्त रहा है।

ऐसी स्थिति में जीवन के लिये संघर्ष करने वाली कोई भी जाति कला और संस्कृति के क्षेत्र में सामान्यतः उन्नति नहीं कर सकती। परन्तु डोगरा-पहाड़ी जाति की सांस्कृतिक परम्पराएँ केवल उन्नत ही नहीं बल्कि इस विशाल देश की सांस्कृतिक देन में उनका स्थान असाधारण समझा जाता है।

डोगरा जाति की सांस्कृतिक देन

सबसे पहले इस जाति की उस साधना का उल्लेख करना ही उचित होगा जिसने न केवल इस जाति को अक्षय्य कीर्ति प्रदान की है अपितु भारतवर्ष की सांस्कृतिक सम्पन्नता को अपूर्व उपहार देकर विश्व में उसके लिए उज्ज्वल कीर्ति उपार्जित की है।

केवल इसी एक साधना के अभिनन्दन में डोगरा-पहाड़ी जाति देश में गौरवमय जीवन की सुविधाएँ प्राप्त करने की अधिकारिणी है। मैं कोई कला-पारखी नहीं हूँ। दूसरे, अपनी जाति के गुण-गान में आत्मप्रशंसा का दोषी होने से भी डरता हूँ। इसलिए इस विषय में अपनी ओर से कुछ भी न कहकर मैं दो-चार कला-पारखियों के विचार ही प्रस्तुत करता हूँ।

श्री ओ० सी० गांगुली ने १९४८ ई० के नवम्बर मास में राष्ट्रपति-भवन, नयी दिल्ली में होने वाली कला-प्रदर्शिनी के उद्घाटन के अवसर पर भाषण करते हुए चित्रकला की पहाड़ी कलम के विषय में कहा था—

'भारतीय चित्रकला की यह शाखा मुगलों के आगमन से सर्वथा पहले विद्यमान थी—यह तथ्य आज इतिहास द्वारा निर्विवाद रूप से समर्थित है, जिसके अनुसार दिल्ली से दूर के अनेक केन्द्रों में चित्रकार इस कला की साधना में लगे हुए थे।

बहुत समय तक राजपूत चित्रकला को मुगल चित्रकला की ही एक शैली माना जाता रहा, जो सर्वथा निराधार था। डा० आनन्द कुमार स्वामी (जो अमेरिका में बोस्टन संग्रहालय के संग्रहाध्यक्ष थे) ने अपने शोधपूर्ण ग्रन्थों से इस तथ्य का महत्वपूर्ण स्पष्टीकरण किया है। इस चित्रकला की मुख्य विशेषता का उल्लेख करते हुए श्री गांगुली कहते हैं :—

Rajput Painting is essentialiy an art of outline. This line is used with Severe economy. It is very definite or restrained. The line is Flowing, Gracious, and reticent.

अर्थात् इस चित्रकला में सर्वाधिक महत्व रेखा-विधान का है। यह रेखा नितान्त संकोच से प्रयोग में लाई जाती है। यह सदैव प्रवाहशील, उदात्त और मौन होती है। अपने भाषण में पहाड़ी चित्रकला की 'काँगड़ा कलम' का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—"वस्तुतः काँगड़ा शैली में ही इस चित्रकला का पूर्ण विकास और कमनीय कलात्मकता अभिव्यक्त हुई है।

कांगड़ा के चित्रकारों ने भारतीय चित्रकला के इतिहास में सबसे उत्तम अध्याय जोड़ा है। काँगड़ा चित्र भारतीय चित्रकला के सूर्यास्त की अन्तिम सुनहरी किरणें हैं—अथवा यों कहिये कि भारतीय कला के अस्तोन्मुख प्रभापूर्ण दिनकर के चारों ओर घेरा डालने वाली बदलियों में इसी पहाड़ी चित्रकला की रहस्यात्मक तथा दिव्य भाव-रश्मियों की गुलकारी मुस्करा रही है।"

यही पहाड़ी चित्रकला—जिसकी कला-रचनाओं से संसार के सभी प्रमुख कला-भवन सुशोभित हैं—डोगरा जाति के सांस्कृतिक जीवन की सर्वाधिक गौरवमयी विभूति है। ये

चित्र केवल अपनी कलात्मकता में ही असाधारण नहीं हैं, इनकी असाधारण संख्या भी विस्मयोत्पादक है। जहाँ हजारों की संख्या में ये चित्र हमारी असावधानी और इनके वास्तविक महत्व की जानकारी न होने से नष्ट हो गये वहाँ हजारों की संख्या में ये इस प्रदेश से बाहर देश तथा विदेश में गए और हजारों की संख्या में अभी भी ये व्यक्तिगत घरों तथा संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। १६५१ ई० में जम्मू में 'डोगरी संस्था' ने एक कला-प्रदर्शिनी में केवल जम्मू शहर से ही ५०० के लगभग चित्रों को एकत्रित कर प्रदर्शित किया था।

गुलेर, काँगड़ा, चम्बा, मण्डी, बसोहली, जम्मू और पुंछ इस चित्रकला के प्रमुख केन्द्र थे। वैसे इस चित्रकला की साझी की परम्परा हमें गढ़वाल से सम्बद्ध करती है जहाँ १८वीं सदी में राजा सुदर्शन शाह के राज्यकाल में मोलाराम जैसे विख्यात कलाकारों की साधना ने पहाड़ी चित्रकला को गौरवान्वित किया था।

इस लघु निबन्ध में इस विषय में विस्तार से कुछ कहने की गुंजाइश नहीं है। यदि हमारी इस सांस्कृतिक-साधना के विषय में विशेष जानकारी पाना चाहें तो श्री रन्धावा द्वारा सम्पादित और केन्द्र सरकार के पब्लिकेशन्स डिविजन द्वारा प्रकाशित नया सचित्र ग्रन्थ—काँगड़ा पेंटिंग्स तथा विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़िअम, लन्दन—के दो नवीन प्रकाशन 'इण्डियन पेंटिंग्स इन दि पंजाब हिल्स' तथा 'काँगड़ा पेंटिंग्स' बड़े सहायक सिद्ध होंगे।

डोगरा जाति की सांस्कृतिक साधना की दूसरी महत्वपूर्ण देन संगीत है। पहाड़ी जीवन वैसे तो पुंछ के पश्चिमी कोण से लेकर नागा प्रदेश तक अपनी लोक-संगीतात्मक लोक-संस्कृति के कारण एक ही समान उल्लासपूर्ण है, परन्तु इस पहाड़ी लोक-संस्कृति के इस पश्चिमी भाग में संगीत की जो शैली विकसित हुई उसे ही 'पहाड़ी राग' की संज्ञा प्राप्त हुई है। जम्मू प्रान्त में जम्मू तथा भद्रवाह हिमाचल प्रदेश में चम्बा तथा शिमला पहाड़ियों और काँगड़ा की घाटी का यही प्रदेश उस पहाड़ी राग की जन्म-भूमि है जिससे भारतीय शास्त्रीय संगीत में 'दुर्गा' तथा 'झञ्जोटी' जैसे रागों का जन्म हुआ।

आज हमारे देश में फिल्म-व्यवसाय अत्यन्त व्यापक तथा लोक-प्रिय हो रहा है। संगीत इसका एक अनिवार्य अंग है। इस संगीत में आज के संगीत निर्देशक पहाड़ी ध्वनियों के मिश्रण को बड़ा महत्त्व देते हैं। यह सत्य है कि कला की दृष्टि से न तो आज का भारतीय फिल्म-व्यवसाय गौरवपूर्ण है और न उसके द्वारा प्रचारित वासनोत्तेजक संगीत ही स्थायी महत्त्व रखता है—परन्तु उस संगीत में पहाड़ी ध्वनियों का समावेश केवल एक ही तथ्य की पुष्टि करता है अर्थात् पहाड़ी राग की लोक-प्रियता।

जैसे पहाड़ी चित्रकला का केन्द्रबिन्दु 'गुलेर' था, इसी तरह इस पहाड़ी राग का केन्द्र बिन्दु चम्बा रियासत का सुरम्य पर्वतीय प्रदेश है। पहाड़ी चित्रकला के विकास में राज्याश्रय का भी एक विशेष भाग है, परन्तु हमारी संस्कृति का यह गौरव चिह्न पहाड़ी संगीत तो केवल जनता की ही साधना का परिणाम है। इसकी रक्षा उन्हीं के द्वारा होती रही है।

संगीत लोक-संस्कृति का अभिन्न अंग है और यह आज भी पहाड़ी जीवन के सुख-दुःख का अभिन्न साथी है। मैदानी प्रदेशों की भी अपने लोक-संगीत की गौरवपूर्ण परम्पराएँ हैं, परन्तु आज वहाँ के सहज जीवन को शहरी सभ्यता का भूत ग्रसता चला जा रहा है। यह बात पर्वतीय क्षेत्रों के विषय में नहीं कही जा सकती। यहाँ का जन-जीवन कला के क्षेत्र में बहुत-कुछ अपनी प्राचीन परम्पराओं को निभाता चला जा रहा है। जन्म से लेकर मरण तक जीवन-यात्रा के प्रत्येक मोड़ पर संगीत हमारा स्वागत करता है, हमें प्रेरणा देता है। हमारे लोक-नृत्यों में सर्वाधिक महत्व 'कुड' नामक उस नृत्य-समारोह का है जिसका प्रचार हमारे प्रदेश के पर्वतीय भू-भाग में है। 'कुड' कृषि जीवन से सम्बद्ध है। पहाड़ों में, जहाँ की धरती एक ही फसल देती है—मकई और धान की, भावण महीने में ये फसलें पकने लगती हैं। तभी पर्वतीय कृषक अपने स्थानीय देवता के स्थान पर इकट्ठे होकर 'कुड' नृत्य करते हैं। कहीं-कहीं इस नृत्य में स्त्री-पुरुष मिल कर भी शामिल होते हैं। यह नृत्य-समारोह रातभर अग्नि के अलाव के प्रकाश में चलता है। आस-पास के प्रदेश के नर-नारी इस उत्सव में सम्मिलित होते हैं। बाँसुरियों और ढोलों की शान्त, मधुर तथा गम्भीर लय पर नर्तक-मण्डली का नृत्य देखने की वस्तु होता है। इसी तरह कंडी के प्रदेश में दो नृत्य प्रचलित हैं। (१) फुम्मनी नृत्य—हाथों की अंगुलियों के अभिनय से पुष्प-रचना की कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण इस नृत्य को 'फुम्मनी' कहते हैं। कृष्ण जन्माष्टमी के दूसरे दिन हमारे प्रदेश में 'गुग्गा नवमी' के धार्मिक दिवस पर देहातों में फुम्मनी नृत्य की छटा दर्शनीय होती है। दूसरे, माघ-संक्रान्ति के पहले दिन हमारे यहाँ लोहड़ी-पर्व पर मयूर की आकृति के छज्जे बना कर तरुण और बालक वृन्दावन के रास नृत्य और पंजाब के भाँगड़ा नृत्य के तत्वों को मिला कर एक नई नृत्य-शैली को जन्म देते हैं। वैसे मैदानी इलाके में वैशाखी के पर्व दिन पर किसानों में भाँगड़ा नृत्य का भी चलन है। परन्तु हम पंजाबी नृत्य ही मानते हैं।

लोक-साहित्य

अपनी जाति की सांस्कृतिक परम्पराओं में मैं चित्रकला, पहाड़ी संगीत तथा लोक-नृत्य का विहङ्गम दृश्य दिखाने के अनन्तर डुग्गर की मूर्तिकला तथा वास्तुकला का विस्तार-भय से उल्लेख न करके अपने लोक-साहित्य के विषय में दो शब्द कहना आवश्यक समझता हूँ।

डोगरों की वीरप्रसू भूमि स्वयं कलामयी है। इसकी कला-साधना के सदृश इसकी लोक-परम्परा भी अत्यन्त उज्ज्वल और रमणीय है।

लोक-गीत

सौ मील चौड़े तथा पाँच सौ मील लम्बे इस रमणीय प्रदेश में लोक-गीतों की एक सजीव परम्परा रही है। भारत अथवा उसके बाहर की किसी भी समृद्ध जाति के लोक-साहित्य से हमारी यह लोक-परम्परा की थाती कम नहीं है। डुग्गर के लोक-गीतों में यहाँ के जीवन की बहुरंगी छटा स्पष्ट लक्षित होती है। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त जीवन-यात्रा के प्रत्येक मोड़ पर ये गीत हमारे भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। आज से तीस-

चालीस वर्ष पहले, जबकि डोगरी के लिखित साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था, यही लोक-साहित्य हमारी साहित्यिक पूँजी थी। आज लिखित तथा प्रकाशित साहित्य द्वारा इस अभाव की किञ्चिन्मात्र पूर्ति हो जाने पर उस लोक-साहित्य का तुलनात्मक महत्व और भी बढ़ गया है। इस लोक-साहित्य में लोक-गीतों के अतिरिक्त अंग्रेजी के बैलेड की भाँति बलिदानी महापुरुषों के जीवन पर आधारित लम्बे काव्यात्मक आख्यानों का एक विशेष सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्व है। इन आख्यानों की दो विधाएँ हैं—एक 'कारक' दूसरी 'बार'। पहली विधा अर्थात् 'कारकों' में धार्मिक तथा सामाजिक नेताओं की लोक-सेवा तथा बलिदान की रोमांचकारी गाथा रहती है तथा 'बारों' में यशस्वी वीर पुरुषों के द्वारा देश अथवा जाति की रक्षा के निमित्त किये गए बलिदानों का विवरण रहता है। हमारे लोक-साहित्य में ये 'कारकें' और 'बारें' काफी संख्या में उपलब्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त इसी शैली में कही गई प्रेम-गाथाएँ, स्थानीय देवी-देवताओं की प्रशस्तियाँ, पौराणिक आख्यान, तथा सती होने वाली शीलवती नारियों के बलिदान की कीर्ति-गाथाएँ भी उपलब्ध होती हैं। लोक-गीतों में अधिक संख्या तो शृङ्गार-सम्बन्धी गीतों की है, परन्तु इसके साथ ही इनमें श्रम-गीत, ऋतु-गीत, मेला-गीत, त्योहार-गीत, संस्कार-गीत तथा सामाजिक भावनाओं की प्रतिक्रियाओं को प्रकट करने वाले गीत भी उपलब्ध हैं। जम्मू में डोगरों की प्रमुख सांस्कृतिक संस्था-डोगरी-संस्था ने जहाँ नवीन डोगरी साहित्य के आन्दोलन को दिशा दी है, उसे आगे बढ़ा कर प्रकाशनों द्वारा इस साधना को स्थायित्व प्रदान किया है, वहाँ लोक-साहित्य की रक्षा के बारे में भी स्तुत्य प्रयत्न किया है। लोक-गीत का एक अपूर्व संग्रह इस संस्था ने किया है, जिसपर अब विधिवत् खोज और शोध-कार्य हो रहा है। इस विषय में अभी केवल एक ही पुस्तक संस्था की ओर से प्रकाशित हुई है। 'खारे-मिट्ठे अत्थरूँ'—यह विवाह-कालीन लोक-गीतों का एक लघु संग्रह है।

'काँगड़ा मित्र-मण्डल' बम्बई ने भी 'काँगड़ा के लोकगीत' नाम से एक उर्दू ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिसमें श्री दुनीचन्द 'हमीरपुरी' द्वारा लिखित उनके कुछ फुटकर लेखों का संग्रह है। पुस्तक स्वभावतः लोकगीतों पर कोई सुसम्बद्ध विवेचन प्रस्तुत नहीं करती, फिर भी डुग्गर के लोकगीतों के कला तथा भाव-पक्ष का इसमें सुन्दर परिचय प्राप्त हो सकता है।

नवीन डोगरी साहित्य

इस निबन्ध के कलेवर की लघु सीमाओं में इस विषय पर विस्तार से कुछ कहना सम्भव न होगा। संक्षेप में इस साहित्यिक पुनर्जागरण की सारी कहानी कह सुनाना भी सरल नहीं। मैंने पीछे एक जगह कहा है कि आज से तीस-चालीस बरस पहले हम लिखित साहित्य की सम्पत्ति से रहित थे। उस समय हमारे पास अपने पूर्वकालीन तीन-चार कवियों के फुटकर पद्यों के इलावा साहित्यिक पूँजी नहीं के बराबर थी। लोक-साहित्य की मौखिक परम्परा का उल्लेख मैं कर चुका हूँ। पिछले तीस बरसों में ही डोगरी साहित्य ने जन्म लिया, और अपने विकास की प्रारम्भिक मंजिलों को धैर्य तथा साहस से पार किया। जम्मू की डोगरी संस्था ने जो वातावरण तैय्यार किया था उसमें नये साहित्यिकों की

प्रतिभा को उचित प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। पं० हरदत्त, दीनूभाई, रामनाथ शास्त्री, 'मधुकर', यश, आवारा, किश्न स्मैलपुरी, तारा स्मैलपुरी, परमानन्द अलमस्त, बसन्तराम, स्वामी, ब्रह्मानन्द जी, सपोलिया, आदि अनेक कवियों ने अपनी साधना से इस पुण्य-यज्ञ में योग दिया है। आज डोगरी साहित्य केवल कविता तक ही सीमित नहीं, उसमें लघुकथा, लोक-कथा, निबन्ध, नाटक, एकांकी, रेडियो नाटक, सभी साहित्यिक शैलियों में लिखने के प्रथम सफल प्रयास हुए हैं।

प्रकाशित साहित्य

कविता—डोगरी भजन माला, भाग १, भाग २, हरदत्त जी वीर गुलाब (दीनू); जागो डुग्गर (प्रतिनिधि काव्यसंग्रह) गुत्तलूँ (दीनू), मंगू दी छबील (दीनू) दादी ते माँ (दीनू), नमियां मिंझरा (मधुकर), भड़ास (शम्भुनाथ), गुँगे दागुद, मानसर, गुप्तगंगा, श्री ब्रह्म संकीर्तन (स्वामी ब्रह्मानन्द)।

पद्यात्मक अनुवाद—भर्तृहरि के तीनों शतक, (नीतिशतक प्रकाशित) कालिदास का मेघदूत, रवीन्द्र नाथ की गीताञ्जलि।

नाटक—नयाँ ग्राँ (प्रकाशित), जित्तो, सरपन्डा, कलाकार (अप्रकाशित)।

लोक-कथा—डोगरी लोक कत्थां (नवी प्रकाशन, दिल्ली), सम्पादक बंसीलाल गुप्ता एम० ए०, इक हा राजा (डोगरी संस्था, जम्मू)।

कथा-साहित्य—पैहला फुल्ल (भगवत् प्रसाद साठे) सुई धागा (ललिता महता), काले हत्थ (वेद राही) सब प्रकाशित।

पत्रिका—(त्रैमासिक)-नयी चेतना—चार साहित्यिक अंक, लोकोक्तियों तथा मुहावरों का संग्रह।

स्थानीय रेडियो से, जहाँ डोगरी को प्रादेशिक भाषा के रूप में एक विशेष स्थान प्राप्त है—समय समय पर प्रसारित होने वाले रेडियो नाटकों तथा निबन्ध-वार्ताओं के रूप में भी इस भाषा के साहित्यिक भण्डार में काफी वृद्धि हुई है।

मध्यकालीन हिन्दी गीतिकाव्य में शकुन और अपशकुन

उमा भटनागर

लोक-विश्वास के अनुसार शकुन और अपशकुन शुभाशुभ के द्योतक हैं। शुभ शकुन प्रिय व्यक्ति से अल्प या दीर्घकाल के पश्चात् मिलन होने तथा कार्यसिद्धि का सूचक है और अपशकुन किसी भावी अनर्थ का द्योतक है।

मध्यकालीन हिन्दी गीतिकाव्य में निम्नलिखित लोक-प्रचलित शकुन और अपशकुनों का उल्लेख हुआ है—

१. अंगों के फड़कने के द्वारा शकुन और अपशकुन विचार।
२. पशु-पक्षियों ,, ,, ,, ,, ,,
३. घड़ी, नक्षत्र, दिन, तिथि एवं दिशा द्वारा शकुन और अपशकुन विचार।
४. ज्योतिषी ,, ,, ,, ,,
५. स्वप्न तथा कनसुई ,, ,, ,, ,,
६. अन्य प्रकार ,, ,, ,, ,,

उक्त समस्त शकुन भारत के विशाल भूमि भाग में मान्य हैं। इनका वर्णन विभिन्न प्रान्तों के लोक-गीतों में हुआ है एवं आज भी ये परम्परागत रूप में लोक-जीवन में स्थितत हैं। यद्यपि इन सभी लोक-विश्वासों का उल्लेख पूर्ववर्ती साहित्य में उपलब्ध होता है तथापि मध्यकालीन हिन्दी गीतिकाव्य में इनका वर्णन साहित्यिक परिपाटी के हेतु नहीं हुआ है। हिन्दी के गीतिकारों ने अनेक ऐसे वैयक्तिक भावचित्र खींचे हैं जिनमें अनुभूत भावों की वैसी ही तीव्र संवेदना निहित है जैसी लोकगीतों में उपलब्ध होती है। उन्होंने सहज स्वाभाविक रूप में भाव-निरूपण करने के हेतु इन विश्वासों को लोक-जीवन से ही अपनाया है। गीतिकारों के कुछ पद तो लोक-गीतों के पूर्णतः रूपान्तर मात्र प्रतीत होते हैं। अब हम निम्न विवेचन से स्पष्ट करेंगे कि मध्यकालीन हिन्दी गीतिकाव्य के कृष्ण काव्य, रामकाव्य और निर्गुण-काव्य पर शकुन और अपशकुन सम्बन्धी विश्वासों का चित्रण किस प्रकार हुआ है।

(१) कृष्ण-काव्य

कृष्ण-काव्य में ब्रज में प्रचलित शकुन और अपशकुनों का उल्लेख मुख्यतः उसी

रूप में उपलब्ध होता है, जिस रूप में व्रज के लोक-जीवन में उनकी मान्यता है। उक्त काव्य में वर्णित शकुन और अपशकुन सम्बन्धी विश्वास निम्न प्रकार के हैं—

(क) शकुन	(ख) अपशकुन
(१) अंगों के फड़कने का शकुन	(१) छींक द्वारा अपशकुन
(२) काग के बोलने का शकुन	(२) पशु-पक्षियों द्वारा अपशकुन
(३) ज्योतिषी द्वारा ,,	(३) दिन एवं घड़ी द्वारा अपशकुन
(४) स्वप्न द्वारा ,,	
(५) दिन, घड़ी, नक्षत्र द्वारा शकुन	

कृष्ण-काव्य के गीतिकारों ने शकुनों का वर्णन मुख्यतः कृष्ण के वियोग के उपरान्त होने वाले मिलन से एवं अपशकुनों का उल्लेख कालीदह तथा दावानल पान की घटना से पूर्व किया है। गीतिकारों ने उन्हीं स्थलों में शकुन और अपशकुन विशेष का वर्णन किया है—जहाँ उनको पात्र विशेष के अन्तर्जगत का निरूपण करना है। अतः भाव-गाम्भीर्य की दृष्टि से ऐसे स्थल महत्वपूर्ण हैं; शुभाशुभ अवसरों पर उन्हों ने केवल शकुन और अपशकुन होने का उल्लेख मात्र किया है।

कृष्ण-काव्य के प्रमुख गीतिकारों में शकुन और अपशकुन का उल्लेख सूरदास के पदों में सबसे अधिक, मीरा तथा विद्यापति के पदों में अपेक्षाकृत कम, तथा कृष्णदास के पदों में सबसे कम हुआ है। शेष गीतिकारों के काव्य में इन विश्वासों के द्वारा विशेष भावात्मक प्रसंगों की परिकल्पना नहीं हुई है।

(२) रामकाव्य

रामकाव्य में शकुन और अपशकुनों का वर्णन लोक-आस्था के अनुरूप ही मिलता है। जहाँ गीतिकारों ने शास्त्रीय पक्ष की ओर संकेत भी किया है वहाँ पर भी लोक-प्रभाव ही प्रमुख है। रामकाव्य में निम्नांकित शकुन और अपशकुनों का उल्लेख हुआ है—

(क) शकुन	(ख) अपशकुन
(१) अंगों के द्वारा शकुन	(१) अंगों के फड़कने का अपशकुन
(२) पक्षियों द्वारा शकुन	(२) अन्य अपशकुन
(३) ज्योतिषी द्वारा शकुन	
(४) कनसुई द्वारा शकुन	

रामायण में शकुन का उल्लेख धनुर्भंग से पूर्व, हनुमान द्वारा मुद्रिका ले जाने, विभीषण के रामचन्द्र जी की शरण में आने, शबरी और राम के मिलने तथा चौदह वर्ष की अवधि के उपरान्त राम, लक्ष्मण और जानकी के अयोध्या लौटने की अवधि समीप आने के प्रसंगों में हुआ है। शेष शुभाशुभ अवसरों पर शकुन-विचार का उल्लेख मात्र हुआ है। गीतिकारों ने रावण द्वारा सीताहरण के प्रसंग में राम को अपशकुन होने का वर्णन किया है। रामकाव्य में अपशकुनों का उल्लेख बहुत कम हुआ है।

निर्गुण काव्य में शकुन और अपशकुन का उल्लेख जहाँ अन्धविश्वास के रूप में हुआ है वहाँ गीतिकारों ने इनको निरर्थक बतला कर लोगों को व्यर्थ के अन्धविश्वासों में

न फँसने का आदेश दिया है; किन्तु जहाँ जीवात्मा रूपी वधू की ब्रह्म रूपी प्रियतम से मिलने की आतुरता का भाव निरूपित किया है वहाँ सगुण धारा के गीतिकारों की भाँति ही लोक-आस्था के रूप में शकुन और अपशकुनों का वर्णन निर्गुण कवियों ने किया है।

निर्गुण काव्य में शकुन और अपशकुन का उल्लेख कबीर के काव्य में अपेक्षाकृत अधिक तथा धरमदास, धरनीदास, भीखा साहब, मलूक दास, पलटू दास, गुलाल साहब, दरिया साहब (बिहार वाले) के पदों में कम हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृष्ण-काव्य, रामकाव्य और निर्गुण काव्य में शकुन और अपशकुन सम्बन्धी लोक-विश्वास का उल्लेख हुआ है। अब मैं निम्न विवरण से स्पष्ट करूँगी कि मध्यकालीन हिन्दी गीतिकाव्य पर इन लोक-विश्वासों का किस रूप में प्रभाव पड़ा है तथा भावाभिव्यञ्जन की दृष्टि से उनका क्या महत्व है।

(क) शकुन—(१) अंगों के फड़कने का शकुन—

कृष्ण-काव्य के कवियों ने स्त्रियों के वाम अंग—नेत्र, भुजा, अधर आदि के फड़कने का उल्लेख किया है, जिसके द्वारा उन्होंने मुख्यतः राधा और गोपियों की कृष्ण से मिलन होने की आशा से उत्पन्न उत्फुल्लता का निरूपण किया है तथा अन्य कवियों ने कृष्ण के वियोग से दुःखित राधा की मनःस्थिति का भी सांकेतिक ढंग से अंकन किया है। गीतिकारों ने आंगिक शकुनों के द्वारा कृष्ण के प्रति राधा एवं गोपियों के तीव्र प्रेम की अभिव्यञ्जना की है।

कृष्णकाव्य के प्रमुख कवियों में आंगिक शकुन का उल्लेख सूरदास ने लगभग तीन पदों में[1] तथा विद्यापति ने एक पद में[2] किया है। सूरदास ने आंगिक शकुनों के द्वारा एक ओर राधा एवं गोपियों की कृष्ण से मिलने की उत्कंठा का निरूपण किया है वहाँ दूसरी ओर मिलन की आशा मात्र से उत्पन्न उनके चरमोल्लास की अभिव्यञ्जना की है। कृष्ण के वियोग से दुखित राधिका की जब एक सखी शुभसूचक शकुन होने की बात बतलाती है, तब उसे सुनते ही राधिका को मनःस्थिति में जो एकाएक परिवर्तन होता है उसको सूरदासजी ने इस प्रकार अंकित किया है—"एक सखी राधा से कहती है—आज अवश्य कृष्ण से मिलन होगा, क्योंकि शुभसूचक वाम अंग कुच, भुज, नैन, अधर फड़क रहे हैं तथा वायु के बिना ही अंचल डोल रहा है। अब सोच का निवारण कर मन में आनन्द करो। विधि ने तुम्हारा भाग्य खोल दिया है। सखी के मुख से ऐसी बात सुनते ही राधिका प्रेमपुलकित हो जाती है। नंद-सुत की अभिलाषा से 'सुभग नारि' (राधा) हर्षित हो उठती है[1]।" सूरदास जी ने इस प्रकार जहाँ एक ओर राधा के उत्कट प्रेम की

१. सूरसागर—पृ० सं० १४२५,१७०३ (प० सं० ४८९४,४८९५)

२. विद्यापति की पदावली—पृ० सं० १९३।

३. "बायस गहगहात सुनि सुंदरि, बानी बिमल पूर्व दिसि बोली।
आजु मिलावा होइ स्याम कौ, तू सुनि सखी राधिका भोली॥—(शेष अगले पेज पर)

गम्भीरता का निरूपण किया है, वहाँ दूसरी ओर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कृष्ण के प्रति राधा का प्रेम इतना प्रगाढ़ है कि उसकी सखियाँ भी जानती हैं कि वह किस लिए इतनी दुखी है।

× × × ×

वाम अंगों के फड़कने से गोपी को किसी शुभसूचक घटना के सुनाई पड़ने का भरोसा होता है। शुभ शकुन होने पर वह सोचती है कि आज श्याम सुन्दर अवश्य मुझे दर्शन देंगे।[१]

विद्यापति ने आंगिक शकुनों के द्वारा कृष्ण के प्रति राधा और गोपियों के तीव्र अनुराग का निरूपण न कर आंगिक शकुन होने पर राधा को सखी द्वारा मनोकामना पूर्ण होने का आश्वासन दिलाने तथा भय और संकोच को त्याग कर शीघ्र ही अभिसार के हेतु तत्पर करने का उल्लेख किया है।[२]

राम-काव्य में स्त्रियों के आंगिक शकुनों में वाम नेत्र एवं वाम भुजा के फड़कने का तथा पुरुषों के आंगिक शकुनों में 'सुअंग' के फड़कने का उल्लेख हुआ है। तुलसीदास ने शबरी को शकुन होने के माध्यम से राम के प्रति उसके प्रगाढ़ प्रेम की अभिव्यञ्जना की है। शुभ शकुन उसके हृदय में प्रिय (राम) से मिलन की आशा का संचार कर देते हैं; वह प्रसन्न हो उठती है तथा शुभ शकुन का फल देखने के लिए उत्सुकता से बाट जोहती है। इन्हों ने उसकी मनःस्थिति का इस प्रकार निरूपण किया है—"आज प्रातः शबरी जैसे ही सोकर उठी, वैसे ही उसका वाम नेत्र एवं वाम भुजा फड़क उठी। इस सुहावने शकुन के कारण उसके मन में उत्साह भरा हुआ है, उसके नेत्रों में जल भर आता है एवं शरीर रोमांचित हो उठता है; वह फूस की पर्ण कुटी बनाकर, निर्मल जल से कलश को भरकर सुहावने शकुन के फल की प्रतीक्षा करती है। मन ही मन

कुच, भुज, नैन अधर, फरकत हैं, बिनहिं बात अंचल ध्वज डोली।
सोच निवारि करौ मन आनँद, मानौ भागा दस बिधि खोली॥
सुनत बात सजनी के मुख की, पुलकित प्रेम तरकि गई चोली।
'सूरदास' अभिलाष नंद सुत, हरषी सुभग नारि अनमोली॥"

सूरसागर, पृ०सं० १७०३

१. "भुज फरकत, अँगिया तरकति; कोउ मीठी बात सुनावै।
स्यामसुन्दर को आगम जानिय, वै निस्चय घर आवै॥
इमि सगुननि कौ यहै भरोसौ, नैननि दरस दिखावै।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस कौ, नव जोबन धनि भावै॥"

सूरसागर, पृ० सं० १४२५।

२. धनि धनि चलु अभिसार
... ...
तुअ उर फुरत बाम कुच, लोचन
बहु मंगल करि लेख।

विद्यापति पदावली, पृ०सं० १९३।

विप्रों की वाणी का स्मरण कर, मंजुल मनोरथ के पूर्ण होने की कामना करती है एवं राम से मिलने के मनोरथ के पूर्ण होने के आनन्दजनित अवसर की प्रतीक्षा में फूली नहीं समाती। उसकी दशा उस कल्पलता के समान है जो सुख रूपी सुकृत से पूर्णतः पुष्पित है"।[१]

तुलसीदास ने एक पद में राम के आने की अवधि निकट आने पर उनकी माता के सुअंग फड़कने का उल्लेख कर पुत्र से शीघ्र मिलने की आतुरता का चित्रण किया है।[२] उन्हों ने सांकेतिक रूप में पुत्र-वियोग में माता के दुखित रहने के भाव की अभिव्यञ्जना भी की है।[३]

पुरुषों में हनुमान जी के सुअंगों के फड़कने का उल्लेख तुलसीदास ने एक पद में किया है। रामचन्द्रजी की मुद्रिका को लेकर सीताजी के पास जाते हुए हनुमान् जी के हृदय में कार्यसिद्धि के लिए उत्पन्न होने वाले विश्वास का संचार कर गोस्वामीजी ने वस्तुतः राम का कार्य कुशलपूर्वक होने की उनकी उमंग का निरूपण किया है।[४]

निर्गुण काव्य में आंगिक शकुनों का उल्लेख कम हुआ है। भीखा साह ने एक पद में आंगिक शकुन का उल्लेख किया है। भीखा साहब ने काया रूपी बन के फूलने का उल्लेख कर मुरारी से शीघ्र मिलने की भावना का निरूपण किया है।[५]

(२) पक्षियों द्वारा शकुन

कृष्ण-काव्य में पक्षियों में काग के द्वारा शकुन होने का उल्लेख हुआ है। इसके द्वारा कवियों ने गोपियों के प्रगाढ़ प्रेम का निरूपण किया है। इस प्रकार के वर्णन के अतिरिक्त जहां कवियों ने अपने को प्रेयसी और ब्रह्म को प्रियतम के रूप में मानकर भावाभिव्यञ्जना की है वहाँ प्रियतम के वियोग से दुखित प्रेयसी की आत्मविकलता एवं प्रियतम से शीघ्र ही मिलने की आतुरता की अभिव्यञ्जना की गयी है। काग के आंगन में बोलने एवं बोल कर उड़जाने का शकुन प्रिय व्यक्ति से मिलन का द्योतक है। इस शकुन

१. गीतावली—१ प्रसंग—शबरी से भेंट, पृ० सं० २८३।
२ माताओं द्वारा अयोध्या में प्रतीक्षा पृ० सं० ३७४।

२. गीतावली—प्रसंग—अशोकवन में हनुमान, पृ०सं० २६१।

३. गीतावली—छेमकरी। बलि बोलि सुबानी।
फरकन लगे सुअंग बिदिसि दिसि, मन प्रसन्न, दुख-दसा सिरानी।
करहिं प्रनाम सप्रेम पुलकि तनु, मानि बिबिध बलि सगुन सयानी॥
गीतावली, प्रसंग अयोध्या में प्रतीक्षा, पृ० सं० ३७१।

४. रजायसु राम को जब पायो।
गाल मेलि मुद्रिका मुदित मन पवन पूत सिर नायो।
भालुनाथ,-नल, नील साथ चले; बलि बालि को जायो॥
फरकि सुअंग भए सगुन, कहत मानो मग मुद-मंगल छायो।२।
गीतावली, पृ० सं० २६१।

५. भीखा० साहब—पृ० सं० ४३।

विचार द्वारा कवियों ने मिलन की आशा से उत्पन्न उल्लास, आतुरता, प्रतीक्षा आदि के भावों का अंकन किया है।

कृष्ण-काव्य के प्रमुख कवियों में पक्षियों द्वारा शकुन के लोक-विश्वास का उल्लेख सूरदास[1] ने लगभग सात पदों में, विद्यापति[2] और मीरा[3] ने दो दो पदों में किया है।

सूरदास ने इस शकुन का उल्लेख जहाँ कृष्ण के अल्पकालीन वियोग के उपरान्त ही किया है, वहाँ उन्हों ने इसके द्वारा गोपियों के कृष्ण से मिलने के उल्लास का वर्णन किया। एक सखी किसी गोपी के आंगन में काग का बोलना सुनकर उसको शुभ संदेश सुनाने आती है और कहती है—"मैंने तेरे आंगन में काग के बोल का शुभ संदेश सुना है, आज अवश्य हरि तेरे घर फाग खेलने आवेंगे[4]।" किन्तु कृष्ण के मथुरा चले जाने पर जब दीर्घकालीन वियोग की स्थिति उत्पन्न होती है तब गोपियाँ काग से बोलने का अनुरोध करती हैं। इससे उनकी कृष्ण से मिलने की तीव्र इच्छा, आतुरता एवं विरह विद-ग्धावस्था का परिचय प्राप्त होता है। कृष्ण ने जो लौटने की अवधि बतलाई थी वह भी बीत गई। उनके शीघ्र लौटने की आशा लगाए रहनेवाली, विरह-संतप्त गोपी काग से अनुनय करती है कि तू उड़कर मुझे प्रियतम के आने का संदेश बता दे। शुभ शकुन प्रस्तुत करने के लिए वह उसे उसकी मनभाई चीज़ देने का प्रलोभन देती है—"हे काग! तू उड़ क्यों नहीं जाता, अगर गोपाल गोकुल में आ गए तो मेरे कितने बड़े भाग्य होंगे। तब मैं तुझे दधि-ओदन को कटोरे में भर कर दूंगी, अंचल की पाग दूंगी। केवल उन्हीं से मिलकर मेरा हृदय शान्त होगा; तू मेरे इस विरह के दाग को मिटा दे। इस अन्तर के अनुराग को (प्रेमी के अतिरिक्त) माता, पिता एवं अन्य कोई भी नहीं जान सकता। कृपा कर हमारे हृदय और देह के संताप को मिटा[5]।" इस प्रकार सूरदास जी ने इस शकुन-विचार द्वारा गोपियों के एकनिष्ठ प्रेम की स्वाभाविक अभिव्यञ्जना की है। सूर की भाँति विद्यापति ने भी इस शकुन द्वारा राधा की कृष्ण से मिलने की आतुरता का निरूपण किया है—"हे काग! बोल बोल कर मुझे सूचित कर दे कि मेरा पाहुना आ रहा है। यदि वह आ गया तो मैं तुझे कटोरा भर खीर भोजन दूँगी, तेरी चोंच सोने से मढ़ा दूँगी।[6]

मीरा ने उक्त शकुन द्वारा विरह की विदग्धावस्था एवं प्रियतम से मिलने की तीव्र अभिलाषा का निरूपण किया है। वह शकुन की बात सच हो जाने पर काग को

१. सूरसागर—पृ० सं० १२१०, १४२५ (पद संख्या ४०७१, ४०७४, १४२६, १६००, १७०३)।
२. विद्यापति—पृ० सं० ३३७,३६१।
३. मीरा पदावली—पृ० सं० ४३,५६।
४. तेरैं आवैंगे आजु सखी हरि, खेलन कौं फागु री।
सगुन संदेसौ हौं सुन्यौं, तेरैं आँगन बोलैं काग री॥
५. सूरसागर—पृ० सं० १४२५।
६. विद्यापति पदावली—पृ० सं० ३३७ (३६१)।

सोने से चोंच मढ़ा देने का प्रलोभन भी देती है[1]। "ए काग ! तेरा बोल सुहावना है। यदि तू आज मेरे प्रियमत से मुझे मिला देगा तो मैं तेरी चोंच सोने से मढ़ा दूँगी; तू ही मेरा सिरताज है। मैं प्रियतम को पत्री लिखूँगी, तू उसे ले जाना और कहना कि तेरी विरहिणी अन्न नहीं खाती। वह पिव-पिव करती बेहाल हुई जाती है[2]।" मीरा ने काग के समक्ष अपनी विरह व्यथा का बर्णन विशेष उद्देश्य से किया है।

गोस्वामी तुलसीदास[3] एवं सूरदास ने[4] अनेक स्थलों में शकुन का उल्लेख किया है। अयोध्या नगरी में प्रतीक्षा करती हुई माता कौशल्या शकुन मनाती है 'ए काग ! सच बतला, मेरे बालक कब कुशल पूर्वक घर आएंगे ? जिस समय मैं सीता सहित राम और लक्ष्मण को हृदय से लगाऊँगी उस समय तुझे दूध-भात का दोना दूँगी और तेरी चोंच सोने से मढ़ा दूँगी।' सूरदास जी ने भी इसी प्रकार काग के शकुन का उल्लेख किया है। उन्होंने उक्त विश्वास द्वारा माता के हृदय में स्थित दुख के मिटने एवं सुख उत्पन्न होने की अभिव्यञ्जना की है।

तुलसीदास ने एक पद में काग के द्वारा शुभ शकुन के अतिरिक्त, क्षेमकरी[5] के शकुन का भी उल्लेख किया है। लोक विश्वास के अनुसार क्षेमकरी का दर्शन कार्य-सिद्धि का द्योतक है। कार्य पूर्ण होने को होता है तो वह गोल मंडल बनाकर उड़ने लगती है अन्यथा नहीं। उसका बोलना भी शुभ सूचक है।

(३) ज्योतिषी द्वारा शकुन

कृष्ण-काव्य में ज्योतिषी द्वारा शकुन-विचार का उल्लेख पाया जाता है।

कृष्णदास ने कृष्ण से मिलन की आशा मात्र से उमंगित गोपी के उल्लास का सांकेतिक निरूपण किया है। एक सखी अन्य सखी से कहती है ज्योतिषी ने बतलाया है कि आज शुभ लगन है, तेरी मिलन की कामना पूर्ण होगी।[6] मीरा ने भी उक्त विश्वास

---

१. मीरा पदावली—पृ०सं० ४३।

२. मीरा पदावली—पृ० सं० ५६।

३. गीतावली—प्रसंग – अयोध्या में प्रतीक्षा, पृ० सं० ३७३।

४. बैठी जननि करति सगुनोती।
लछिमन-राम मिलैं अब मोकौं दोउ अमोलक मोती,
इतनी कहत, सुकाग उहाँ तैं हरी डार उड़ि बैठ्यौ,
अंचल गाँठि दई, दुख भाज्यौ, सुख जु आनि उर पैठ्यौ,
जब लौ हौं जीवौं जीवन भर, सदा नाम तव जपिहौं,
दधि ओदन दोना भरि दैहौं, अरु गाइनि मैं थपिहौं,
अबकै जो परचौ करि पावौं, अरु देखौं भरि आँखि,
सूरदास सोने के पानी मढौं चोंच अरु पाँखि।
सूरसागर, नवम स्कन्ध, पृ० सं० २४७।

५. गीतावली—पृ० सं० ३७४।

६. कीर्तन संग्रह—पृ० सं० ७१।

द्वारा आत्मानुभूत वियोगजनित विकलता तथा प्रियतम से मिलने की आतुरता का भावांकन किया है।[1]

कृष्ण-काव्य की भाँति राम-काव्य में भी प्रथा के रूप में तथा सामान्यतः दैनिक जीवन में स्थित विश्वास के रूप में उक्त शकुन का उल्लेख हुआ है। गोस्वामीजी ने धनुर्भंग प्रसंग में राम के साथ सीता का विवाह हो जाने की अभिलाषा रखने वाले पुरुषों द्वारा गणक को बुलवा कर शकुन पूछने तथा मनोनुकूल उत्तर से प्रसन्न होकर धैर्य धारण करने का उल्लेख कर राम के प्रति उनके तीव्र प्रेम का निरूपण किया है।[2]

निर्गुण काव्य में उक्त शकुन विचार का उल्लेख मुख्यतः अन्ध विश्वास के रूप में हुआ है जिसका वर्णन कबीर दास, मलूकदास, पलटूदास, धरनीदास ने विशेषतः किया है। मलूकदास कहते हैं—"विदेश गमन करते समय ज्योतिषी से शुभ अथवा अशुभ दिन पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है। दिन का कोई दोष नहीं होता।" अन्य कवियों ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है। किन्तु जहाँ लोक आस्था के रूप में वर्णन हुआ है वहाँ जीवात्मा रूपी दुलहन की प्रियतम से मिलन की आतुरता का भाव निरूपित हुआ है। इस प्रकार का उल्लेख बहुत कम हुआ है।

(ख) १—छींक द्वारा अपशकुन—

कृष्ण-काव्य में इस अपशकुन द्वारा मुख्यतः माता यशोदा एवं पिता नंद के हृदय की विह्वलता का निरूपण हुआ है। सूरदास ने उक्त अपशकुन का उल्लेख लगभग सात पदों में किया है। शेष कवियों ने कोई उल्लेख नहीं किया है। सूरदास ने छींक के अपशकुन द्वारा पुत्र के प्रति माता[3] और पिता[4] के गहन प्रेम का निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग लोकोक्ति की भाँति भी किया गया है। कृष्ण को मार्ग रोक कर, खड़ा देखकर, गोपी कहती है—"हम छींकते ही घर से नहीं आई थीं[5]"। किन्तु इस प्रकार का प्रयोग बहुत कम उपलब्ध होता है।

निर्गुण धारा के कवियों में पलटूदास ने एक पद में[6] इस अपशकुन का वर्णन किया है। जिस समय जीवात्मा ने परमार्थ तत्त्व के प्रति अपने को अर्पित करने का

१. मीरा पदावली–पृ. सं. ५६।

२. गीतावली–प्रसंग–धनुर्भंग, पृ. सं. ११८,३७३।

३. सूरसागर–पृ. सं. ४६३, ४७२,४४६।

४. सूरसागर–पृ. सं. ४४६,४४१।

५. सूरसागर–पृ. सं. ७७३।

६. अरे बनिजारे रे भइया
तू मत करु अस ब्योपार। टेक।
इक बनिजारा अलप जुवनिया
दूसरे लगतु है जाइ

संकल्प किया, उसी समय छींक हो गई। लोक-विश्वास के अनुसार यात्रा की परिसमाप्ति के अनन्तर लौट आने के शुभ परिणाम की आशा की जाती है। लौकिक पक्ष में यह लौटना शुभ और वांछनीय है, परन्तु वही परमार्थ पक्ष में अशुभ तथा अवांछनीय है। पलटूदास जिसको प्रकट रूप में वांछनीय कह रहे हैं, वस्तुतः वे उसकी अवांछनीयता दिखला रहे हैं।

(२) पशु-पक्षियों द्वारा अपशकुन

कृष्ण-काव्य में उक्त अपशकुन द्वारा मुख्यतः माता यशोदा और पिता नंद के मनोभावों का निरूपण हुआ है। सूरदास ने इन अपशकुनों का मुख्यतः उल्लेख किया है, जो चार पदों में उपलब्ध होता है। सूर ने बिल्ली द्वारा रास्ता काटने[1], खर[2] और सियार[3] के बोलने, तुरंग[4] और नाग[5] के रोने, पुरुष के माथे पर से कौए के उड़ जाने[6], निशि में कौए के बोलने,[7] श्वान द्वारा द्वार पर कान फटफटाने,[8] गिरीं के लड़ने[9] आदि का वर्णन किया है। सूरदास ने अपशकुनों के द्वारा मातृ और पितृ हृदय की आशंका-जनित उद्विग्नता का निरूपण कर पुत्र के प्रति उनके तीव्र अनुराग की अभिव्यञ्जना की है। इन्हों ने अपशकुन-सम्बन्धी विश्वासों का उल्लेख मुख्यतः एक ही साथ किया है, जो भाव की तीव्रता एवं अवसर विशेष के वातावरण के निरूपण में सहायक हैं।

छींक के अपशकुन द्वारा यशोदा तथा नंद के हृदय में किसी भावी अमंगल की आशंका का भाव जाग्रत होता है तथा उसी क्षण एक के बाद दूसरे अपशकुन के होने से आशंकाजनित भाव और भी दृढ़ हो जाता है। अपशकुनों द्वारा आशंकित मातृ-हृदय की विह्वलता का चित्रण सूरदास ने इस प्रकार किया है—"यशोदा जैसे ही रसोई के भीतर जाती हैं कि छींक हुई, जिससे उनके हृदय में आशंका जाग उठी कि कौन-सी अशुभ बात होने वाली है। वह इतना सोचती ही है कि बिल्ली सामने से निकल कर पुनः आंगन में लौटकर रास्ता काट देती है। यशोदा व्याकुल होकर बाहर निकल कर देखती है कि कृष्ण कहाँ हैं। उसी समय बायीं ओर कौआ तथा दाहिनी ओर खर बोलता है। एक साथ इतने अपशकुनों को होते देखकर उनकी आशंका दृढ़ हो जाती है कि अवश्य ही कोई बुरी बात होने वाली है। यशोदा व्याकुल होकर घर में लौट पड़ती

आगि लगे वहि बाँटे बाँटे
जहँवा किहेनु पयान
छींकत बरदी लादेनु नायक
माँग सेंदुर महरान॥ ३ ॥
पलटूदास पृ० सं० ७२।

१. सूरसागर पृ० सं० ४४६,४६३।

२. सूरसागर-पृ० सं० ४४६,६२।

३, ४, ५, और ७ सूरसागर-पृ. सं. ६२।

६. सूरसागर-पृ. सं. ४४६।

८. और ६ सूरसागर-पृ. सं. ४४६ (पद सं. ११५६)।

है तथा कभी भीतर, कभी बाहर, कभी आंगन में आती है। यशोदा कृष्ण को टेरती है, उसके हृदय में तनिक भी शान्ति नहीं है।

इसी प्रकार दावानल के प्रसंग में भी सूरदास ने मातृ-हृदय की आशंका-जनित उद्विग्नता का वर्णन किया है।

इन्हों ने अपशकुनों द्वारा पिता नंद की मनःस्थिति का निरूपण भी इसी प्रकार किया है। नंद जैसे ही स्नान कर, घर लौटकर पौरी पर बैठते हैं, वैसे ही उनके बाईं ओर छींक होती है, दाहिनी ओर गदहे का स्वर सुनाई पड़ता है, द्वार पर कुत्ता कान फटफटाता है, गिर्री लड़ाई लड़ती है तथा उनके माथे पर से काग उड़ता है। एक साथ इतने अपशकुन होते देख नंद मन मारे हुए घर आकर यशोदा को भी उदास देखकर पूछते हैं कि तेरा मुख क्यों मुर्झा गया है। कृष्ण कहाँ गए हैं ?

अपशकुन होने के कारण जब नंद और यशोदा के मन में किसी अशुभ बात की आशंका उत्पन्न होती है तब तुरन्त उनका ध्यान कृष्ण की ओर ही जाता है। जननी यशोदा अपशकुन होते ही कृष्ण को घर में न देखकर बाहर खोजने जाती हैं और उन्हें कहीं न देखकर विह्वल होकर पुकारने लगती हैं। इसी प्रकार अपशकुन होने पर नंद कान्ह को गृह में न देखकर यशोदा से पूछते हैं कि वह कहाँ है !

अंगों के फड़कने का अपशकुन

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में केवल राम-काव्य में अंगों के फड़कने का उल्लेख हुआ है। कृष्ण-काव्य और निर्गुण काव्य में इसके विशेष उदाहरण नहीं मिलते।

तुलसीदास ने एक पद में अंग संबंधी अपशकुन का उल्लेख किया है। रावण पर्णकुटी में से सीता को हर ले जाता है। इधर मृगया खेलकर वन से लौटते हुए राम की वाम भुजा एवं बायाँ नेत्र फड़कते हैं। तदुपरान्त अन्य अपशकुन भी होते हैं, जिसके द्वारा उनके मन में किसी अमंगलकारी घटना की आशंका उत्पन्न होती है।[१]

दिन सम्बन्धी अपशकुन

कृष्ण काव्य में दिन सम्बन्धी अपशकुन का उल्लेख बहुत कम हुआ है। सूर की गोपी कृष्ण को होली के अवसर पर प्रतिपत् के दिन मथुरा न जाने के लिए कहती है।

निर्गुण काव्य के प्रमुख कवियों में दिन विशेष के अपशकुन का उल्लेख दरिया-साहब (बिहार वाले) ने एक पद में किया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि हिन्दी गीति काव्य में वर्णित शकुन और अपशकुन द्वारा कवियों ने मानवों के सूक्ष्म एवं सुकोमल मनोभावों का स्वाभाविक रूप में वर्णन किया है।

---

१. गीतावली—प्र० राम की वियोग व्यथा, पृ. सं. २७५।

वनस्पति-जगत् संबंधी लोक-विश्वास

कृष्णदेव उपाध्याय

वनस्पति जगत् से मानव का संबंध उतना ही प्राचीन है जितनी उसकी सृष्टि। सभ्यता के आदि काल से ही वृक्ष, लतायें, पुष्प, घास आदि मानव के सहचर रहे हैं। आदिम काल में मनुष्य पेड़ों के नीचे अथवा लताओं के झुरमुट में रहा करता था। इन से प्राप्त फलों से अपनी क्षुधा की तृप्ति किया करता था तथा इनकी लकड़ी को जलाकर शीत से अपनी रक्षा करता था। उस आदि मानव की लज्जा को ढकने के लिए ये वृक्ष अपने छिलकों के रूप में उसे वस्त्र प्रदान करते थे। अतः आदिम मानव की प्राथमिक आवश्यकताओं—आवास, भोजन, वस्त्र—की पूर्ति इन्हीं वृक्षों के द्वारा हुआ करती थी। इन्हीं कारणों से उसने वृक्षों को देवता के रूप में पूजना प्रारम्भ कर दिया हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पूर्वी अफ्रिका के लोगों का यह विश्वास है कि प्रत्येक वृक्ष—विशेष कर नारियल—में जीव होता है। चूँकि नारियल से उनको भोजन तथा जीवनी शक्ति प्राप्त होती है अतः वे उसे काटना माता की हत्या के समान पातक मानते हैं।[1] यूरोप के अन्य देशों में भी इस प्रकार की प्रथाएँ प्राप्त हैं जिनसे ज्ञात होता है ये लोग वृक्षों को कितना पवित्र मानते हैं तथा उनके लिए इनकी शाखाओं या पत्तियों को भी हानि पहुँचाना अत्यन्त निषिद्ध है।[2]

भारत में वैदिक काल से ही वृक्षों तथा लताओं के प्रति सम्मान प्रदान करने की भावना उपलब्ध होती है। वैदिक आर्य सोमरस पान करने के बड़े ही अभ्यासी थे। यह रस सोम नामक लता को पीसकर निकाला जाता था। सोम रस को पीने से उनको जीवनी शक्ति तथा बल प्राप्त होता था। अतः ऋग्वेद में सोम की बड़ी प्रशंसा की गई है और देवता के रूप में इसकी प्रतिष्ठा पायी जाती है। सोम की स्तुति में अनेक सूक्त कहे गये हैं।

हमारे ऋषि-मुनि जंगलों में आश्रम बनाकर रहा करते थे। वृक्षों से उत्पन्न फल ही उनका मुख्य आहार था। इनकी छाल उनके वस्त्र का काम देती थी और इनकी लकड़ी दैनिक अग्निहोत्र में प्रयुक्त होती थी। पुष्प और धूप उनकी पूजा की सामग्री थे।

१. जेम्स फ्रेज़र—गोल्डन बाऊ, भाग १, पृ. १४८

२. वही, पृ. १५० (संक्षिप्त संस्करण)।

इस प्रकार ये वृक्ष उनके एकान्त जीवन के सहचर ही नहीं थे बल्कि दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले भी थे। यही कारण है कि पुराण काल तक आते आते वृक्षों की देवता रूप में प्रतिष्ठा ही नहीं मिलती बल्कि इनकी पूजा का बड़ा माहात्म्य भी उपलब्ध होता है

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं अपने को वृक्षों में 'अश्वत्थः' (पीपल) कहा है। अतः वृक्षों के प्रति साधारण जनता में पूज्य बुद्धि का होना स्वाभाविक ही है। धीरे-धीरे लोगों में इन वृक्षों, लताओं तथा पुष्पों के प्रति अनेक विश्वास प्रचलित हो गये और उन्हों ने रूढ़ियों का रूप धारण कर लिया। विशेष वृक्षों की पूजा पुत्र देने वाली, धन-धान्य प्रदान करने वाली अथवा मनोभिलाषा की पूर्तिकारक मानी जाने लगी।

इस लेख में वनस्पति जगत् संबंधी, साधारण लोक-विश्वास को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। वर्णन की सुविधा के लिए वनस्पति जगत् को निम्नांकित पाँच भागों में विभक्त किया गया है :—

(१) वृक्ष (२) पौधा (३) घास (४) पुष्प (५) शाक।

शास्त्रों तथा पुराणों में विभिन्न वृक्षों का जो माहात्म्य वर्णन किया गया है। उसे प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य नहीं है; बल्कि अशिक्षित एवं साधारण जनता में इन वृक्षों तथा पौधों के संबंध में जो लोक-विश्वास प्रचलित हैं, केवल उन्हीं का उल्लेख किया गया है। ये विश्वास केवल इसी देश में हैं ऐसा समझना भूल होगा। संसार की सभ्य कही जाने वाली जातियों में भी ये विश्वास आज भी मिलते हैं। इस विषय का तुलनात्मक अध्ययन बड़ा ही रोचक है; परन्तु स्थानाभाव से यहाँ यह संभव नहीं है।

(क) वृक्ष

१—पीपल

पीपल परम पवित्र वृक्ष माना जाता है। इसका कारण संभवतः यह है कि इसके ऊपर ब्रह्मा का निवास रहता है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का निवास इस वृक्ष पर है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' ऐसा कहकर सब वृक्षों में अपने को पीपल माना है[1]। कुछ लोग श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव का निवास इस वृक्ष पर स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अनेक देवताओं का निवास-स्थान होने के कारण इस वृक्ष का परम पवित्र माना जाना स्वाभाविक है। अनेक प्राचीन मन्दिरों के ऊपर यह वृक्ष उगता हुआ दिखाई पड़ता है, जहाँ इसकी जड़ें उस मन्दिर की दिवाल में घुसकर अपनी स्थिति बना लेती हैं। मन्दिर के पास पीपल के पेड़ को लगाने की प्रथा भी है। इसलिए देवी-देवताओं के मन्दिरों से संबंधित होने के कारण भी यह पवित्र माना जाता है।

यह वृक्ष बहुत बड़ा और विशाल होता है तथा इसकी आयु भी बहुत अधिक होती है। इसकी जड़ें दूर तक जमीन में चली जाती हैं। इसकी पत्तियाँ हवा के

---

१. गीता, १०।२६।

तनिक भी चलने से डोलने लगती हैं। महाकवि तुलसीदास ने मन के डोलने या चलायमान होने की उपमा पीपल के पत्ते से दी है[१]। इस प्रकार यह अंग्रेजी वृक्ष अस्पेन (Aspen) के समान है, जिसकी पत्तियाँ लज्जा के कारण इसलिए हिलती रहती हैं कि उसकी लकड़ी से 'क्रास' बनाया गया था।[२]

भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में इस वृक्ष को संसार का रूपक माना है और इसे 'अव्यय' अर्थात् कभी न नष्ट होने वाला बतलाया है[३]। संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों में इस वृक्ष का सादर उल्लेख पाया जाता है। इन कारणों से भी इसका महत्त्व बहुत अधिक है।

इस वृक्ष की इसी महत्ता तथा पवित्रता के कारण भोजपुरी प्रदेश में इसकी लकड़ी का जलाया जाना निषिद्ध है। यों तो भोजपुरी जनता किसी भी हरे वृक्ष को काटना बुरा मानती है, परन्तु पीपल के वृक्ष को तो कभी भी नहीं काटते हैं, क्योंकि लोगों की ऐसी धारणा है कि इस वृक्ष के काटने से, इसपर निवास करने वाले देवताओं को कष्ट होने के कारण, काटने वाले को पाप लगता है। इसीलिए कोई भी हिन्दू अपने हाथ से इस वृक्ष को नहीं काटता।[४]

भोजपुरी प्रदेश में सोमवती अमावस्या के दिन स्त्रियाँ स्नान करके, वासुदेव के रूप में इस वृक्ष की पूजा करती हैं। वे इसकी जड़ में जल चढ़ाती हैं; चन्दन, रोरी और फूल से इसकी पूजा करती हैं तथा १०८ बार इसकी प्रदक्षिणा या परिक्रमा करती हैं। प्रत्येक प्रदक्षिणा की समाप्ति पर वे एक किसमिस, बताशा, लड्डू अथवा चना रखती जाती हैं। यह संभवतः प्रदक्षिणा को १०८ बार गिनने के लिए किया जाता है। अन्त में ये वस्तुयें प्रसाद रूप में बाँट दी जाती हैं अथवा भिक्षुकों को दे दी जाती हैं। कोई बूढ़ी स्त्री राजा निकुञ्जलो और उनकी पतिपरायणा स्त्री सत्यव्रती की कथा भी सुनाती है जिसने इस वृक्ष के प्रति अपनी भक्ति के द्वारा अपने पति को जीत लिया था। इसीलिए इस वृक्ष की पूजा दाम्पत्य-प्रेम को बढ़ाने वाली मानी जाती है। लोगों का विश्वास है कि इसकी पूजा सन्तान को भी देने वाली है।

१. रामचरितमानस—'पीपर पात सरिस मन डोला'।

२. क्रुक—पा. रि., भाग २, पृ. ९८।

३. ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ गीता, १५।१

४. सहारनपुर जिले के मेरे एक मित्र ने मुझे यह बतलाया कि उनके खेत में एक पीपल का पेड़ था, जिसकी छाया पड़ने के कारण उस खेत की पैदावार नष्ट हो जाती थी। उस वृक्ष को काटने के लिये उन्होंने अपने हिन्दू नौकर से कहा। परन्तु उसने इस काम के लिए स्पष्ट मना कर दिया। कोई भी हिन्दू 'लकड़हारा' इस काम के लिए तैयार नहीं हुआ। अन्त में परेशान होकर उन्होंने एक मुसलमान से उस वृक्ष को काटने को कहा। तब उसने उस वृक्ष को काट डाला। इसका तात्कालिक दुष्परिणाम क्या हुआ, यह तो नहीं मालूम, परन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् मेरे मित्र की एक लड़की मर गई।

राजपूताने में विधवापन से रक्षा करने के लिए स्त्रियाँ वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को इसकी पूजा करती हैं।[1] वहाँ यज्ञोपवीत, विवाह तथा किसी भवन के शिलान्यास के अवसर पर भी इस वृक्ष की पूजा की जाती है। पुत्र की प्राप्ति के लिए इसकी छाया में शपथ ग्रहण किया जाता है। कुछ लोगों का विश्वास है कि रविवार के दिन इस वृक्ष पर लक्ष्मी का निवास होता है तथा अन्य दिनों में दरिद्रता और दुःख का। इसलिए रविवार के दिन इस वृक्ष की विशेष रूप से पूजा की जाती है। किसी मृत व्यक्ति का पुत्र दिवंगत पिता की आत्मा की शान्ति के लिए इसकी जड़ में ३६० घड़े जल डालता है। रविवार के दिन जल से अर्घ्य देकर इसकी पाँच बार प्रदक्षिणा की जाती है। धनी लोग चाँदी या सोने की पीपल की प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा तथा प्रदक्षिणा करते हैं। कुछ लोग दूध से अथवा दूध मिश्रित जल से इसको अर्घ्य देते हैं। स्त्रियाँ इसकी प्रदक्षिणा करते समय इसके तने में सूत लपेटती जाती हैं। संभवतः यह सूत यज्ञोपवीत का प्रतीक है, जिसे इस पवित्र वृक्ष को अर्पित करना उचित समझा जाता है।

भोजपुरी प्रदेश में किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् दिवंगत आत्मा को जल प्रदान करने के लिए तथा उसकी शान्ति के लिए, इस वृक्ष की शाखा में जल से भरा एक छोटा घड़ा लटकाने की प्रथा है, जिसे 'घण्ट' कहते हैं। सम्भवतः यह 'घट' शब्द का अपभ्रंश है। 'दाह' देने वाला व्यक्ति प्रातः तथा सन्ध्याकाल इस घण्ट में जल डालता है तथा पीपल को भी अर्घ्य देता है। गाँवों में इस वृक्ष के नीचे 'ग्राम देवता' का मन्दिर बनाया जाता है अथवा मन्दिर के प्रतीक रूप में कुछ अनगढ़ पत्थर एकत्रित कर रख दिये जाते हैं।

यों तो इस वृक्ष को काटकर किसी उपयोग में लाना निषिद्ध है, परन्तु अग्नि को उत्पन्न करने के लिए प्रयोग में आने वाली 'अरणी' और यज्ञीय कर्म में प्रयुक्त होने वाला 'स्रुवा'–होम में घी डालने का पात्र–पवित्रता के कारण इसी पीपल के वृक्ष की लकड़ी से बनाए जाते हैं। इस वृक्ष की पूजा केवल भारतवर्ष में ही नहीं पाई जाती बल्कि अफ्रिका, न्यूज़ीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, सुमात्रा तथा जावा आदि देशों में भी इसकी पूजा का प्रचार है[2]।

२—बरगद

बरगद का वृक्ष अपनी विशालता के लिये प्रसिद्ध है। इसकी आयु बहुत बड़ी होती है। यह विस्तार में अपना सानी नहीं रखता। इसकी छाया बहुत घनी होती है, जिसके नीचे हजारों आदमी आराम से रह सकते हैं। इसकी शाखाओं से जड़ें फूटकर नीचे की ओर लटकती हैं, जिनको 'बरोहि' कहते हैं। ये जड़ें जमीन के नीचे घुस जाती हैं और एक स्वतन्त्र वृक्ष का रूप धारण कर लेती हैं, जिससे इस वृक्ष का विस्तार दिन पर दिन अधिक होता जाता है।

---

१. कैम्पबेल—नोट्स, पृ. २३८।

२. विशेष के लिए देखिए—वेक—सरपेण्ट वरशिप, पृ. १८।

बरगद को संस्कृत में वटवृक्ष या 'न्यग्रोध' कहते हैं। संस्कृत साहित्य में इस वृक्ष का उल्लेख प्रचुरता से पाया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में किसी राजा को सोमरस का पीना छोड़कर इस वृक्ष के दूध को पीने का आदेश किया गया है[1]। वाल्मीकिरामायण तथा उत्तररामचरित में प्रयाग में स्थित अक्षयवट का उल्लेख पाया जाता है, जिसकी सुशीतल छाया में राम, लक्ष्मण और सीता ने विश्राम किया था। एक कथा के अनुसार एक बार मार्कण्डेय ऋषि ने नारायण भगवान् से अपनी प्रलय लीला दिखलाने को कहा। भगवान् ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर समस्त संसार को जलमग्न कर दिया। केवल एक अक्षयवट ही जल में निमग्न होने से बचा रहा। इसकी शाखा की पत्ती पर बाल-रूप में भगवान् विराजते रहे, जिन्हों ने भयभीत मार्कण्डेय ऋषि को प्रलय की बाढ़ में डूबने से बचाया। प्रलय की बेला में वट के पत्ते पर सोकर क्रीड़ा करने वाले भगवान् कृष्ण का वर्णन नीचे के श्लोक में बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है—

"हस्तारविन्देन मुखारविन्दे,
पादारविन्दं विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं,
बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥"

सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन्साङ्ग ने प्रयाग के अक्षयवट का उल्लेख अपने यात्रा-विवरण में किया है[2]। गया में बोधि (वट) वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध को 'बुद्धत्व' की प्राप्ति हुई थी। ऐसा कहा जाता है कि लंका का सुप्रसिद्ध बोधिवृक्ष इसी वृक्ष की सन्तान है। बम्बई प्रान्त में जेठ मास की अमावस्या को स्त्रियाँ सावित्री के उपलक्ष में वट की पूजा करती हैं। यह प्रसिद्धि है कि सावित्री के पति सत्यवान् जब इस वृक्ष को काट रहे थे तब उनकी कुल्हाड़ी की चोट से सावित्री की मृत्यु हो गई[3]। सम्भवतः इसीलिए वट की पूजा इस प्रान्त में की जाती है।

भोजपुरी प्रदेश में इस वृक्ष को बहुत पवित्र मानते हैं। इस वृक्ष की शाखाओं को काटना अत्यन्त निषिद्ध समझा जाता है। बलिया जिले के मधुवनी गाँव में एक बहुत बड़ा बरगद का पेड़ है, जिसकी विस्तृत शाखाओं से स्टेशन को जाने वाली सड़क का रास्ता रुक गया है। परन्तु इसकी शाखाओं को काटना निषिद्ध मान कर वह सड़क ही छोड़ दी गई है और उसके पास दूसरा रास्ता बनाया गया है। बरगद की पत्तियों का 'पत्तल' बनाया जाता है, जिसमें भोजन करना पवित्र माना जाता है। अनेक बीमारियों में इसके दूध का उपयोग होता है।

१. हाग—ऐतरेय ब्राह्मण २, पृ. ४८६।
२. कनिंघम—आर्क्योलाजिकल रिपोर्ट, भाग १, पृ. ५।
३. कैम्पबेल—नोट्स, पृ. २३८।

३—गूलर

गूलर को संस्कृत भाषा में 'उदुम्बर' कहते हैं। इस वृक्ष की पत्तियों को तोड़ने से उनके डण्ठल से दूध निकलता है, जो बहुत गुणकारी माना जाता है। संभवतः इसीलिए इसको 'हेमदुघा' भी कहते हैं। इसका दूध मूर्च्छा तथा अन्य बीमारियों में लाभदायक होता है। यह गर्भपात को रोकता है तथा माता के दूध को बढ़ाता है[१]। इसके दूध की इन्हीं विशेषताओं के कारण इसे 'क्षीर वृक्ष' भी कहते हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार विवश्वत् (विवस्वान्) का आसन—जिसकी पूजा सोमयज्ञ के अन्त में की जाती है—गूलर की लकड़ी का बना हुआ बताया जाता है। सोम देवता जिस सिंहासन पर बैठते हैं वह भी इसी लकड़ी का बना हुआ होता है। मनु ने लिखा है कि वैश्य जाति के ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर गूलर के पेड़ का दण्ड धारण करना चाहिए। ऐसी प्रसिद्धि है कि दीवाली को रात्रि को देवतागण इस वृक्ष पर एकत्रित होते हैं और इसके सारे फूलों को तोड़ ले जाते हैं, इसलिए गूलर का फूल कभी देखने में नहीं आता। जिस व्यक्ति का दर्शन प्रायः नहीं होता उसके संबंध में यह कहा जाता है कि 'वह गूलर का फूल' हो गया है।

भोजपुरी प्रदेश में लोगों का यह विश्वास है यदि गूलर के फूल को (जो प्रायः दिखाई नहीं पड़ता) किसी भोज्य पदार्थ या द्रव्य की राशि में रख दें तो फिर उसमें से जितना भी खर्च किया जाय वह कभी कम नहीं हो सकता। इसलिए जो वस्तु खर्च करने पर भी नहीं घटती उसके संबंध में यह कहा जाता है उसमें गूलर का फूल रख दिया गया है। घर के समीप गूलर के वृक्ष को 'लगाना' बुरा माना है, क्योंकि लोगों का यह विश्वास है कि इससे उस घर के पुत्रों की मृत्यु हो जाती है। कुछ लोगों का यह भी विश्वास है कि इस वृक्ष की छाया पूर्वसंचित पुण्य को नष्ट कर देती है। इसीलिये धार्मिक व्यक्ति इसकी छाया से बचकर चलते हैं।[२] इस वृक्ष का फल मीठा होता है जिसे ग़रीब आदमी चुन चुन कर खाते हैं। यह वृक्ष बड़ा मनहूस माना जाता है। अतः भोजपुरी मातायें अपने उद्दण्ड पुत्रों को गूलर के पेड़ के नीचे बैठ कर रोने तथा इसके फल—जिसको 'गोदा' कहते हैं—को बीन बीन कर खाने का शाप देती हैं।

१. कैम्पबेल – नोट्स, पृ. २३७।

२. कुछ वर्षों की बात है कि काशी के पञ्चगङ्गा घाट पर बेनीमाधव जी के मन्दिर के पास एक गूलर का पेड़ था। इन पंक्तियों के लेखक की पूजनीया माता श्रीमती मूर्तिदेवी जी जब पञ्चगङ्गा घाट पर गंगास्नान के लिये जाती थीं तब इस वृक्ष की छाया से बचकर चलती थीं, जिससे उनका पूर्वसंचित पुण्य नष्ट न हो जाय। कुछ दिनों के बाद उन्हों ने इस रास्ते से जाना ही छोड़ दिया और अपनी वृद्धावस्था में भी एक लम्बे चक्करदार रास्ते को तय कर गङ्गास्नान करने जाया करती थीं। इसका कारण पूछने पर उन्हों ने यह बतलाया कि इस वृक्ष की छाया लगने से मेरा सब पुण्य नष्ट हो जाता है। धार्मिक लोगों द्वारा प्रार्थना करने पर अब यह वृक्ष काट दिया गया है।

४—सेमर

सेमर को संस्कृत में 'शाल्मली' वृक्ष कहते हैं। पंचतंत्र में गोदावरी नदी के किनारे एक विशाल शाल्मली वृक्ष का उल्लेख पाया जाता है, जिसकी शाखाओं पर अनेक दिशाओं से आकर पक्षीगण निवास करते थे।[१] यह वृक्ष बहुत ही लम्बा तथा मोटा होता है। बहुत संभव है कि इसकी विशालता के कारण ही इसको सम्मान दिया गया हो। इसका फूल लाल-लाल होता है, जिसमें गन्ध तनिक भी नहीं होती। संस्कृत के किसी कवि ने उच्चकुल में उत्पन्न होने वाले परन्तु विद्याहीन पुरुषों की उपमा इस वृक्ष के गन्धहीन फूलों से दी है[२]। इस वृक्ष के फल को 'ढेढ़ा' कहते हैं, जिसमें से रूई निकलती है। इसकी रूई का प्रयोग तकिया बनाने में किया जाता है। जंगली जातियाँ इसके रेशे का उपयोग करती हैं।

इस वृक्ष के नाम पर शाल्मली नामक नरक का उल्लेख पाया जाता है जिसमें जाने वाले पापी आदमियों को इस वृक्ष के काँटों से—जिन्हें 'कूट शाल्मली' कहते हैं—दण्ड दिया जाता है। इसकी लकड़ी बहुत हल्की होती है। अतः इससे पालकी बनाई जाती है जिसमें बैठकर दुलहा विवाह करने के लिए जाता है। कोल तथा द्रविड़ जातियों में विवाह के मण्डप का स्तम्भ सेमर की लकड़ी का बनाया जाता है जिसके चारों ओर वर-बधू प्रदक्षिणा करते हैं। उत्तर प्रदेश के 'बँसफोर' जाति के लोग विवाह मण्डप में गूलर तथा सेमर की लकड़ी का स्तम्भ स्थापित करते हैं।

५—नीम

नीम के पेड़ को संस्कृत में 'निम्ब' कहते हैं। यह वृक्ष बहुत ही पवित्र समझा जाता है, क्योंकि शीतला देवी का यह निवासस्थान माना जाता है। शीतला चेचक की देवी हैं; अतः इस रोग में नीम के वृक्ष का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता है। चेचक को बंगाल में 'बसन्त रोग' कहते हैं, क्योंकि यह प्रधानतया वसन्त ऋतु में ही होता है। अतः चैत्रमास में नवरात्र के समय इस वृक्ष की विशेष रूप से पूजा की जाती है। यह क्रम आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष तक चलता रहता है। स्त्रियाँ इस ऋतु में स्नान करके, नवीन वस्त्र धारण कर, अक्षत, चन्दन, पुष्प आदि से इसकी पूजा करती हैं और इसकी जड़ के पास सुगन्धित द्रव्य जलाती हैं।

नीम का वृक्ष बड़ा विशाल होता है। इसकी छाया बड़ी शीतल होती है। इसके फल को 'निमकौड़ी' कहते हैं। पक जाने पर इसका फल जमीन पर स्वतः गिरने लगता है। गरीब आदमी 'निमकौड़ी' को इकट्ठा करके इसका तेल निकालते हैं, जो दीपक जलाने के काम में लाया जाता है। बुखार में इसके तेल की मालिश रोगी के तलवे में की जाती है, जिससे ज्वर कम हो जाता है। इसके फूल को वसन्त ऋतु में धनी लोग घी में

१. अस्ति गोदावरीतीरे विशालो शाल्मलीतरुः।

२. रूपयौवनसम्पन्नाः, विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीनाः न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

तल कर खाते हैं, जो रक्त-शोधक अर्थात् खून को साफ करने वाला है। इसके वृक्ष की पत्तियाँ तथा छिलके अनेक रोगों में प्रयोग में लाये जाते हैं, जिसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया जायेगा। नीम का गोंद खाने के काम में लाया जाता है। वैद्यक शास्त्र में इस वृक्ष की बड़ी प्रशंसा की गई है तथा यह बड़ा ही उपयोगी पेड़ माना गया है। हिन्दू लोग नित्य प्रातःकाल इस वृक्ष की टहनी की 'दतौन' करते हैं, जो दाँतों को साफ तथा मजबूत करती है।

जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है नीम वृक्ष शीतला देवी का निवास-स्थान माना जाता है। लोगों का विश्वास है कि शीतला माता इसपर रहती हैं और भक्त के द्वारा आवाहन करने पर यहाँ से उसकी रक्षा के लिए जाती हैं। एक भोजपुरी गीत में शीतला माता का इस वृक्ष पर झूला डालकर झूलने का उल्लेख पाया जाता है। उस वृक्ष पर झूला झूलते समय शीतला देवी को प्यास लग जाती है, वह अपनी भक्तिन से पीने के लिए पानी माँगती हैं। तब भक्तिन कहती है—ए माता! मैं आपको पानी कैसे पिलाऊँ? मेरी गोदी में चेचक में रोग से पीड़ित बालक पड़ा हुआ है। यह गीत इस प्रकार है[1]—

"नीमिया की डाढ़ी मइया नावेली हिलोरवा,
कि झुली झुली ना, मइया गावेली गीत।
कि झुली झुली ना ॥ टेक० ॥

झुलत झुलत मइया का लगली पियसिया,
कि चलि भइली ना, मलहोरिया आवास।
सूतलु बाड़ू कि जागलि ए मालिन,
उठि के मोहि के पनिया पिआव।
कइसे मैं पनिया पियावों ए सीतला मइया,
मोरा गोदी लड़िका तोहार।"

नीम की पत्तियों का उपयोग चेचक की बीमारी में विशेष रूप से किया जाता है। माली अथवा घर की स्त्रियाँ इसकी टहनी से रोगी के लिए पंखा करती हैं, क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसकी हवा से रोगी का दुःख शीघ्र ही दूर हो जाता है। कुछ लोग नीम की पत्तियों पर रोगी को सुलाते भी हैं। इसके फूल को रोगी की चारपाई के ऊपर बिखेर दिया जाता है, क्योंकि उसकी सुगन्ध रोगी के लिए हितकर मानी जाती है। कुछ लोग प्रातःकाल नीम के वृक्षों के नीचे टहलते हैं और उसकी हवा को स्वास्थ्यप्रद मानते हैं।

नीम वृक्ष का सम्बन्ध सर्प से भी है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि यदि कोई मनुष्य बारह वर्ष तक नीम की लकड़ी से पकाये गये भोजन को करता रहे, सदैव नीम की दतौन करे तथा अन्य प्रकार से भी नीम का ही उपयोग करता रहे तो उसके शरीर पर साँप के काटने का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ सकता, प्रत्युत इसके ठीक विपरीत ऐसे

---

१. उपाध्याय – भोजपुरी लोकगीत, भाग १, पृ. २६९-७०।

मनुष्य को काटने वाला सर्प स्वयं ही मर जावेगा। यह विश्वास केवल इसी देश में नहीं है, बल्कि यूरोप में भी पाया जाता है। समस्त उत्तरी यूरोप में एश (नीम) वृक्ष की पत्तियों और लकड़ी को सर्पदंश से रक्षा करने वाला माना जाता है।[१] कार्नवाल में लोगों का विश्वास है कि 'एश' वृक्ष के पास किसी भी प्रकार का सर्प नहीं आ सकता और इसकी शाखा को अपने पास रखने से किसी भी व्यक्ति के पास सर्प आने की हिम्मत नहीं कर सकता[२]।

भोजपुरी प्रदेश में साँप के द्वारा काटे गये व्यक्ति को नीम की पत्तियाँ खिलाई जाती हैं। यदि इसकी पत्तियाँ खाने में उसे कड़वी लगती हैं तो यह समझा जाता है कि सर्प के काटने का प्रभाव नहीं हुआ है; परन्तु यदि वे कड़वी न लगें तो यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि सर्प के काटने का प्रभाव इस व्यक्ति पर प्रचुर परिमाण में हो गया है। इस बात की जाँच करने के लिए ऐसे व्यक्ति को कभी-कभी नीम का फल (निबौरी) भी खिलाया जाता है।

नीम की पत्तियों का प्रयोग भूत भगाने के लिए भी किया जाता है। जब किसी व्यक्ति को 'भूत' लग जाता है तब उस भूत को भगाने के लिए नीम की पत्तियों को जला कर उसका 'धुआँ' देते हैं। उस धुयें के लगने से भूत भाग जाता है। स्त्रियों के सूतिका गृह में जलने वाली अँगीठी—जिसे 'पासँघि' कहते हैं—में इसी नीम वृक्ष की लकड़ी जलाई जाती है, जिससे कोई भूत या प्रेतात्मा घर में घुसकर नव-जात शिशु को दुःख न दे। इसी प्रकार से अन्य अवसरों पर भी भूत भगाने के काम में इसकी पत्तियों तथा लकड़ी का उपयोग किया जाता है।

समस्त उत्तरी भारत में किसी व्यक्ति की मृत्यु से उत्पन्न स्पर्श-दोष को दूर करने के लिए इसकी पत्तियों को काम में लाया जाता है तथा श्मशान से लौटकर आने वाले लोगों के पीछे लगने वाली प्रेतात्मा को दूर भगाने के लिए भी यह एक उपयुक्त साधन है। इसलिए वे लोग नीम की पत्तियों को चबाते हैं तथा इसकी टहनी से उनके ऊपर जल छिड़का जाता है। बम्बई राज्य में भूतों के ऊपर नीम की पत्तियों का इतना अधिक प्रभाव माना जाता है कि जब किसी स्त्री को बच्चा पैदा होता है तब सूतिकागृह के द्वार पर नीम तथा गोमूत्र को किसी बर्तन में रख देते हैं, जिससे कोई बुरी आत्मा (भूत-प्रेत) कमरे के भीतर घुसकर नवजात शिशु और उसकी माता को कष्ट न दे। महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मणों में यह प्रथा है कि सूतिकागृह के द्वार पर गोमूत्र में नीम की एक टहनी डाल कर रख दी जाती है। यदि कोई व्यक्ति घर के भीतर घुसना चाहे तो यह आवश्यक है कि वह अपने पैर पर नीम की टहनी से गोमूत्र को थोड़ा छिड़क ले। लोगों का विश्वास है कि इससे बुरी आत्मायें भीतर नहीं घुसने पातीं।

१. 'फोकलोर', भाग ३, पृ. ८८।
२. हण्ट – पापुलर रोमान्सेज, पृ. ४२०।

पूना के ब्राह्मणों में यह प्रथा है कि बच्चा के पैदा होने पर घर के सामने तथा पीछे वाले द्वारों पर नीम की पत्तियों को टाँग देते हैं। अहमदनगर में यदि किसी व्यक्ति को साँप काट कर खाता है तो उसे भैरव के मन्दिर में ले जाते हैं और वहाँ उसे नीम की पत्ती में मिर्च मिला कर खाने को दिया जाता है तथा इसकी पत्तियों से उसको 'झाड़ते' हैं। कच्छ के कनफटी योगी अपने कानों को छिदवाते हैं। उस छेद में वे नीम की ही लकड़ी डालते हैं और नीम का तेल लगाकर अपने कान के घाव को ठीक करते हैं[1]।

जंगली जातियों में भी इस वृक्ष की पूजा का प्रचार है। मद्रास राज्य की जोगी नामक जंगली जाति इस वृक्ष की पूजा करती है और इस वृक्ष का प्रतीक कुत्तों के शरीर पर बनाती है।[2] बनजारे लोग इस वृक्ष के द्वारा अपनी स्त्रियों के सतीत्व की परीक्षा करते हैं। पति जमीन पर नीम की शाखा को फेंक कर कहता है—'यदि तुम सच्ची तथा सती स्त्री हो तो इस नीम की शाखा को उठा लो।'[3] उत्तर प्रदेश की डोम नामक जाति नीम वृक्ष को काली का निवास-स्थान मानती है। कुरमी नामक जाति के लोग काली भवानी का निवास इसपर मानते हैं। इस वृक्ष के नीचे देवी की प्रतिमा को स्थापित करके वे इस वृक्ष की पूजा करते हैं।[4]

इस प्रकार नीम का वृक्ष अपनी उपयोगिता तथा शीतला एवं काली देवी का निवास स्थान होने के कारण पवित्र माना जाता है।

६—बेल

बेल के वृक्ष को भोजपुरी प्रदेश में 'सिरिफल' कहते हैं, जो संस्कृत के 'श्रीफल' शब्द का अपभ्रंश है। संस्कृत में इसे 'बिल्व' वृक्ष कहते हैं तथा इसका पत्ता बिल्व-पत्र कहा जाता है, जिसका भोजपुरी नाम 'बेलपत्तर' है। इस वृक्ष में काँटे होते हैं। इसका फल, जिसे 'सिरिफल' कहते हैं—गोल तथा कड़ा होता है। बहुत लोग गर्मी के दिनों में इसके फल का शरबत बना कर पीते हैं, जिसकी तासीर बहुत ठंढी होती है। इस वृक्ष के प्रत्येक वृन्त में तीन पत्तियाँ होती हैं।

यह वृक्ष बड़ा पवित्र माना जाता है। इसकी पत्तियाँ भगवान् शिव के लिङ्ग पर चढ़ाई जाती हैं। लोगों का ऐसा विश्वास है कि इन पत्तियों को शिव के ऊपर चढ़ाने से हलाहल (विष) के पान करने से उत्पन्न भगवान् शिव की गर्मी शान्त होती है। जिन पत्तियों में किसी कीड़े के द्वारा चिह्न बना रहता है अथवा जो पत्तियाँ क्षत-विक्षत होती हैं उन्हें शिव के ऊपर नहीं चढ़ाया जाता। बहुत से लोग बेल की पत्तियों पर, चन्दन को पीसकर उसके द्वारा इसकी डण्ठल से 'राम राम' लिखकर शिवजी पर चढ़ाते हैं। ऐसा करना अनन्त पुण्य को देने वाला समझा जाता है। शिव का इस वृक्ष से विशेष सम्बन्ध

१. कैम्पबेल—नोट्स, पृ. २३४।
२. मुल्लले—नोट्स आन मद्रास क्रिमिनल ट्राइ'स, पृ. २०।
३. क्रुक पा. लि., पृ. १०५।
४. पंजाब नोट्स एण्ड क्वेरीज, भाग ३, पृ. ३८।

बाँस में दुष्ट आत्माओं (Evil spirits) को भगाने का जो गुण है वह अन्य प्रान्तों या राज्यों में भी पाया जाता है। गुजरात में तुरी नामक जाति के लोग सूतिकागृह में बाँस के दो टुकड़ों को इसलिए रख देते हैं जिससे दुष्ट आत्मायें उसमें प्रवेश न कर सकें।[१]

भोजपुरी प्रदेश में वर जब अपनी वधू के साथ विवाह करके घर लौटता है तब गृह के प्रधान द्वार से लेकर शयन-गृह तक जाने के लिये वर और वधू ज़मीन पर पैर नहीं रखते, बल्कि उन्हें हरे बाँस की बनी हुई छबड़ी (दौरा) में पैर रखकर चलना पड़ता है, जिसे भोजपुरी में 'दौरा में डेग डालना' कहते हैं। बाँस अधिक सन्तानोत्पत्ति का प्रतीक माना जाता है। अतः वर-वधू का बाँस की बनी छबड़ी में पैर रखकर चलना उनके लिए शुभ-सूचक माना जाता है। यह प्रथा अन्य प्रान्तों में भी पाई जाती है। गुजरात की महार और माँग नामक जातियाँ नव-विवाहित-दम्पति को बाँस की बनी टोकरी में खड़ी करती हैं। पूना के प्रभू लोग विवाह के अवसर पर वर, वधू और अतिथि लोगों के सिर पर बाँस की टोकरी को रखते हैं। बंगाल के मुवासी जाति के लोग विवाहित स्त्री-पुरुष को बाँस के बने स्तम्भ के चारों ओर घुमाते हैं। बिरहोर लोग फटे बाँस के रूप में अपने देवता की पूजा करते हैं। आसाम राज्य की कछारी और गारो नामक जातियाँ जमीन में बाँस को गाड़ कर उसकी पूजा करती हैं। राजमहल पहाड़ी के लोग पताका से युक्त तीन बाँसों की 'चौदे गुसाँई' के रूप में पूजा कहते हैं[२]। उत्तरी भारत की नीची जातियों के मन्दिरों में पताका से युक्त बाँस के स्तम्भ देवताओं के निवास-स्थान माने जाते हैं। भोजपुरी प्रदेश में लोगों का ऐसा विश्वास है कि 'चुरइल' (चुड़ैल) का आवास-स्थान 'बँसवारि' है।

८—आँवला

आँवला भी एक पवित्र वृक्ष माना जाता है। कार्तिक मास में इस वृक्ष की विशेष रूप से पूजा की जाती है। स्त्रियाँ प्रतिदिन स्नान करके अक्षत, चन्दन, रोरी, फूल और नैवेद्य से इसकी पूजा करती हैं और इसकी जड़ में अर्घ्य दान करती हैं। पुत्र की प्राप्ति के लिए इस वृक्ष की पूजा का विधान है। यों तो पूरे कार्तिक महीने भर इसकी पूजा करने का नियम है परन्तु कार्तिक शुक्ल नवमी—जिसे 'अक्षय नवमी' कहते हैं—के दिन इसकी पूजा का विशेष महत्त्व है। इस दिन इस वृक्ष के नीचे ब्राह्मणों को भोजन कराना बड़ा ही पुण्यदायक माना जाता है। जिन लोगों को भोजन कराने वाला कोई यजमान नहीं मिलता वे स्वयं जाकर इस वृक्ष के नीचे भोजन बनाते हैं और उसे ग्रहण करते हैं। अक्षय नवमी के दिन आँवले की छाया में भोजन बनाना और खाना बड़ा ही पुण्य देनेवाला समझा जाता है। इसीलिए जहाँ इस वृक्ष के नीचे भोजन बनाने की व्यवस्था नहीं होती वहाँ घर से बनाकर भोजन ले जाया जाता है और इसकी

१. कैम्पबेल नोट्स—पृ. २३६।
२. क्रुक—पा. रि., भाग २, पृ. ११३ (संशोधित संस्करण)

छाया में बैठकर खाया जाता है। जहाँ आँवले का बड़ा वृक्ष उपलब्ध नहीं होता वहाँ उसके पौधे के ही पास बैठकर भोजन किया जाता है। इसका भी पुण्य कुछ कम नहीं होता।

अक्षय-नवमी की कथा

अक्षय नवमी के दिन इस वृक्ष के नीचे स्त्रियाँ 'भतुआ' (पेठा) दान करती हैं। 'भतुआ' को छेदकर उसमें पंचधातु—सोना, चाँदी, ताम्बा आदि रखकर उसे ब्राह्मण को दान कर दिया जाता है। इसे 'गुप्तदान' कहते हैं। इस दान का उद्देश्य सन्तान की प्राप्ति है। स्त्रियाँ इस वृक्ष की पाँच बार परिक्रमा करती हैं और उसके तने में पाँच बार सूत लपेटती हैं, जो सम्भवतः यज्ञोपवीत का प्रतीक है।

आँवले के फल का उपयोग अनेक रोगों में किया जाता है जिसका वर्णन यथावसर किया जायेगा।

९—आम

भोजपुरी प्रदेश में आम का वृक्ष प्रचुरता के साथ पाया जाता है। इसके फूल, फल, पत्ती और लकड़ी का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता है। अपनी इसी सर्वांगीण उपयोगिता के कारण यह वृक्ष अत्यन्त पवित्र माना जाता है।

आम का वृक्ष बड़ा विशाल होता है तथा इसकी छाया बड़ी घनी होती है। इसके फूल को 'मोजर' कहते हैं, जो संस्कृत में 'मञ्जरी' के नाम से प्रसिद्ध है। संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों ने आम की मञ्जरी का उल्लेख अपने काव्यों में अनेक बार किया है। आम के फल को 'रसाल' कहते हैं जो भोजपुरी में 'गोपी' कहा जाता है। आम के छोटे-छोटे कच्चे फल को 'टिकोरा' कहते हैं। टिकोरे की पूर्वावस्था को 'सरिसई' कहा जाता है, जो मोजर में से निकल कर छोटे फल का रूप धारण करती है। अनेक भोजपुरी लोकगीतों में इस 'सरिसई' का उल्लेख पाया जाता है। जैसे—

"जब आमवा में लागे ला सरिसई हो रामा।
तब पियवा करे ला लरिकई हो रामा।"

आम के फल के भेद अनन्त होते हैं। इन भेदों का नामकरण उनकी आकृति, स्वाद तथा स्वरूप पर निर्भर होता है। उदाहरण के लिए कुछ आमों के नाम उनके वर्गीकरण के साथ इस प्रकार हैं—

(१) करियवा	(२) सिन्धोरिया	—	स्वरूप के आधार पर।
(३) लमकोइया	(४) गोलियवा	—	आकृति के आधार पर।
(५) चेफुअवा	(६) तेलहवा	—	स्वाद के आधार पर।
(७) करुअइना और	(८) खटहवा		

आम के फल के रस को निचोड़ कर कपड़े के ऊपर फैला कर कड़ी धूप में सुखाया जाता है। इस प्रकार आम के रस की जो मोटी तह (पट्टी) तैयार होती है उसे 'अमावट' कहते हैं। आम की पत्तियों को 'पल्लो' कहा जाता है, जो संस्कृत शब्द पल्लव का

अपभ्रंश है। बनारसी बोली में आम के 'पल्लो' को 'टल्लो' कहते हैं। आम की गुठली को फोड़ कर और उसकी गिरी (गुद्दे) को निकाल कर, आटे में मिला कर उसकी रोटियाँ पकाई जाती हैं, जिसे नीच जाति के लोग खाते हैं। आम की गुठली अनुकूल जलवायु ताथ मिट्टी पाकर पौधे के रूप में जब उगने लगती है तब उसे 'मोला' कहते हैं। भोजपुरी प्रदेश में छोटे-छोटे बच्चे इसी मोले को रगड़ कर मुँह से बजाते हैं, जिससे बड़ी सुन्दर आवाज निकलती है। यह बाल-क्रीड़ा का उत्तम साधन है।

जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है आम का वृक्ष बड़ा पवित्र माना जाता है। यज्ञ में हवन के कार्य में इसकी लकड़ी का उपयोग किया जाता है। यज्ञोपवीत तथा विवाह में इसकी हरी लकड़ी का 'पीढ़ा' बनाया जाता है। विवाह में वर इसी पीढ़े पर बैठ कर वैवाहिक विधि-विधानों को सम्पन्न करता है। यज्ञोपवीत में ब्रह्मचारी को इसी पीढ़े पर बैठाकर स्नान कराया जाता है। इसी वृक्ष की हरी लकड़ी से एक पटरी बनाई जाती है, जिसे 'पाटी' कहते हैं। ब्रह्मचारी सर्वप्रथम इसी 'पाटी' पर अक्षरारम्भ करता है और 'श्रीगणेशाय नमः' लिखना सीखता है। ब्रह्मचारी की खड़ाऊँ भी आम की ही होती है।

विवाह में मण्डप के बीच में जो 'हरिस' गाड़ी जाती है वह भी इसी आम की लकड़ी की बनी होती है। इसी शुभ अवसर पर वर और कन्या को जिस 'जुआठि' पर खड़ा करा कर स्नान कराया जाता है वह भी इसी लकड़ी की बनाई जाती है। पण्डित लोग आम की 'चौकी' (तख्ते) पर पूजा करना शुभ मानते हैं। श्राद्ध के अवसर पर जो चारपाई दान रूप में महा ब्राह्मण को दी जाती है उसका 'पाया' (पैर) प्रायः आम की लकड़ी का बना हुआ होता है। मृत व्यक्ति को आम की लकड़ी से जलाना पवित्र माना जाता है। पीपल के समान आम की लकड़ी भी पवित्र मानी जाती है; अतः समस्त शुभ कार्यों में इसका प्रयोग किया जाता है।

विवाह के अवसर पर आम की पत्तियों से 'तोरण' बनाया जाता है और उसे घर के प्रधान द्वार, बरामदे तथा मण्डप में माला के रूप में टाँगा जाता है। मण्डप में जो 'माँड़ो' गाड़ा जाता है उसमें प्रत्येक बाँस के ऊपरी सिरे पर आम की पत्तियाँ बाँधी जाती हैं। सत्यनारायण की कथा, यज्ञोपवीत, विवाह तथा अन्य किसी भी शुभ अवसर पर, कलश स्थापन के समय जल से भरे मिट्टी के घड़े में आम का पल्लव डाला जाता है, जो इसकी पवित्रता का सूचक है। आचमन करते समय आम के 'पल्लो' का उपयोग आचमनी के रूप में किया जाता है तथा हवन करते समय यज्ञ-कुण्ड में घी की आहुति डालने के लिए इसका प्रयोग 'स्रुवा' के रूप में करते हैं। 'माता दाई' (देवी) की पूजा में भी आम की पत्तियाँ काम में लाई जाती हैं। विवाह आदि के अवसर पर गणेश की गोबर की प्रतिमा की स्थापना पल्लव पर ही की जाती है। सच तो यह है कि प्रत्येक मांगलिक कार्य में आम की पत्तियों का होना अत्यन्त आवश्यक है। मंगलकार्य की समाप्ति पर आम की पत्तियों को बटोर कर किसी नदी में प्रवाहित कर देते हैं। परन्तु जहाँ नदी नहीं होती वहाँ उसे किसी 'बँसवारि' की जड़ में फेंक देते हैं।

बहुत-से लोग आम की टहनी की दतौन करना शुभ मानते हैं। स्त्रियाँ व्रत की समाप्ति के दूसरे दिन अर्थात् पारणा के दिन किसी फलवाले वृक्ष—जैसे आम और अमरूद—की दतौन करना पवित्र मानती हैं और वे प्रायः इस दिन आम की ही दतौन करती हैं। परन्तु रविवार और मंगलवार को इस वृक्ष की दतौन करना निषिद्ध है। भाद्र मास के शुक्लपक्ष की पंचमी को 'ऋषि पंचमी' कहते हैं। इस दिन स्त्रियाँ 'चिचिड़ी' नामक पौधे की दतौन करती हैं। परन्तु जहाँ यह पौधा उपलब्ध नहीं होता वहाँ आम के पल्लव की ही दतौन की जाती है। विवाह के शुभ अवसर पर वर की माता आम के पाँच पल्लवों की जड़ को बारी बारी से अपने दाँत से काटती है और इसके पश्चात् अपने भाई के द्वारा दिये गये जल को मुँह में अञ्जली (आजुँरि) लगाकर पीती है। इस विधि को 'इमली घोटाना' कहते हैं। यद्यपि इस विधि में 'इमली' की पत्तियों को निगलने का संकेत है। परन्तु वास्तव में वे आम की ही पत्तियों की जड़ को अपने दाँतों से काटती हैं।

पवित्र होने के कारण आम के हरे वृक्ष को काटना निषिद्ध माना जाता है। रात हो जाने पर आम की पत्तियों को तोड़ना मना है, क्योंकि लोगों का ऐसा विश्वास है कि इससे वृक्ष की आत्मा को कष्ट होता है।

१०—महुआ

महुआ को संस्कृत में 'मधूक' कहते हैं। इसका फूल पीला तथा गोल होता है, जो देखने में बड़ा ही सुन्दर मालूम होता है। इसकी माला बहुत मनोरम तथा कोमल होती है। "मधूकमाला सविशेषमृद्वी" लिखकर संस्कृत के किसी कवि ने इसकी कोमलता एवं मधुरता की ओर संकेत किया है। प्राचीन काल में स्वयंवरों में जिस फूल की माला वर को चुनने के लिए प्रयोग में लाई जाती थी, वह संभवतः महुए की ही बनती थी। बहुत संभव है कि इस वृक्ष को यह गौरव इसके फूल की सुन्दरता के कारण मिला हो।

महुआ का वृक्ष बड़ा विशाल होता है। इसके फूल, फल, छाल और लकड़ी सभी का उपयोग होता है। अपनी उपयोगिता और सुन्दरता के कारण ही इस वृक्ष की इतनी महत्ता है। महुआ वृक्ष का फूल—जिसे 'महुआ' ही कहते हैं—ग्रीष्म ऋतु में जमीन पर 'चूता' है। रात में जो महुआ चूकर जमीन पर गिरता है, उसे प्रातःकाल 'बीन' कर इकठ्ठा करते हैं और धूप में फैलाकर सुखा लेते हैं। गरीब लोग महुए को भाड़ में भूनकर खाते हैं। यह जानवरों को भी खिलाया जाता है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि गाय और भैंस को महुए खिलाने से उनके दूध में वृद्धि होती है और वे बलशाली होती हैं। महुआ को पानी में भिगोकर, उसे सिल पर पीस कर, आटे में मिलाकर उसकी रोटी बनाई जाती है, जिसे 'महुअर' कहते हैं। यदि पीसे हुए महुए में गुड़ मिला दिया जाय तो वह मदिरा के समान अपवित्र समझा जाता है[1]।

१. इस सम्बन्ध में एक पण्डितानी जी की कथा बड़ी मनोरञ्जक है। एक दिन किसी पण्डित ने अपनी स्त्री से 'महुअर' बनाने के लिए कहा। पण्डिताइन ने सोचा यदि महुए में थोड़ा गुड़ डाल दिया जाय

नीची जाति के लोग महुए को सड़ाकर उसकी 'शराब' बनाते हैं, जिसे 'ठर्रा' कहते हैं। इसलिए आबकारी विभाग के लिए इस वृक्ष का बड़ा महत्व है।

महुए के फल को 'कोयतों' कहते हैं, जो बरसात के दिनों में फलता है। इसकी गिरी (गुद्दा) से तेल निकाला जाता है, जिसे 'कोइना' या 'कोयतों' का तेल कहते हैं। गरीब लोग इसके तेल को जलाते हैं तथा इसमें पकवान पकाकर खाते हैं।

लोक-कथाओं में 'महुए के चूने' का उल्लेख अनेक स्थानों पर पाया जाता है। एक कथा के अनुसार कोई सर्प किसी महुए के वृक्ष के नीचे रात को जा रहा था। इतने ही में उसके शरीर पर महुआ चू-चू कर गिरने लगा। इसपर उसने वृक्ष से पूछा कि तुम महुओं को पट-पट मेरे सिर पर गिराकर उसे क्यों फोड़ रहे हो! इसपर वृक्ष ने उत्तर दिया कि तुम कुसमय अर्थात् रात्रि में क्यों जा रहे हो! :—

"टाप टिपोरी कपार काहे फोरी। राति बिराती कुजून काहे चली॥"

महुए की पत्तियों से 'पत्तल' तैयार किया जाता है, परन्तु इसमें भोजन करना अशुद्ध समझा जाता है। विशेषकर पण्डित लोग महुए के पत्तल में कभी भोजन नहीं करते।

मध्य भारत में महुआ का वृक्ष बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। बिहार के कुरमी, लोहार, मुण्डा और सन्ताल जाति के लोग विवाह में इस वृक्ष की पूजा करते हैं। द्रविड़ जात के लोग—विशेषकर भुइया—इस वृक्ष की शाखा को विवाह के समय वर और वधू के हाथों पर स्थापित करते हैं। ये लोग पुरोहित के द्वारा जमीन में लगाये गये इस वृक्ष की टहनी के चारों ओर प्रदक्षिणा करते हैं। गोण्ड लोगों में यह एक अलौकिक प्रथा है कि वे मृत युवक पुरुषों के शव को गाड़ने के पहिले महुआ के वृक्ष में रस्सी से बाँध कर टाँग देते हैं।[१]

भोजपुरी प्रदेश में महुआ का वृक्ष अशुद्ध माना जाता है। इसीलिए किसी मांगलिक कार्य में इसकी लकड़ी का प्रयोग नहीं किया जाता। इस वृक्ष के नीचे घूमना तथा रहना मना है क्योंकि इसका प्रभाव बड़ा मादक होता है।

११—पलास

पलास शब्द संस्कृत के 'पलाश' का अपभ्रंश रूप है। इसका शाब्दिक अर्थ 'मांस को खाने वाला' होता है जिसकी ओर पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय ने 'प्रिय-

तो वह और भी मीठा हो जायेगा और उसकी 'महुअरि' बड़ी स्वादिष्ट होगी। यह सोचकर उसने महुए के साथ गुड़ पीसकर 'महुअरि' बनाया और पण्डितजी को खाने को दिया। पण्डित जी को महुअरि बड़ी मीठी लगी और उन्हों ने अपनी स्त्री की भर पेट प्रशंसा की। पण्डितजी ने पंडितायन से पूछा कि तुम्हारी 'महुअरि' इतनी मीठी और स्वादिष्ट कैसे बनी है? इसपर पंडितायन ने कहा कि मैंने इसमें गुड़ भी डाला है। पंडित यह सुन कर अपनी स्त्री पर बहुत क्रोधित हुए और उससे कहा कि 'अरी मूर्खा! क्या तू यह नहीं जानती कि महुआ और गुड़ मिला देने से शराब बन जाती है!'

१. डाल्टन – डिस्क्रिप्टिव एटनोलाजी आफ बेङ्गाल पृ. १४८।

प्रवास' में संकेत किया है। पलाश का वृक्ष बड़ा पवित्र माना जाता है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि इसका प्रयोग यज्ञीय अग्नि को उत्पन्न करने में किया जाता है। इसका फूल लाल लाल होता है, जो वसन्त ऋतु में फूलता है। इसके फूल से गुलाबी रंग तैयार किया जाता है, जो होली खेलने के काम में प्रयुक्त होता है। इसकी जुड़ी हुई तीन पत्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव अथवा जन्म, जीवन, और मरण की प्रतीक हैं। इसकी पत्तियों से पत्तल बनाई जाती हैं, जिनमें भोज के अवसर पर भोजन किया जाता है। जिन लोगों को महुए की पत्तल में भोजन करने में आपत्ति होती है वे भी पलाश की पत्तल में सहर्ष भोजन ग्रहण करते हैं।

मृत व्यक्ति को पलाश की लकड़ी से जलाना पवित्र माना जाता है। यज्ञीय कर्म में हवन के अवसर पर पलाश की लकड़ी जलाकर उसमें 'होम' किया जाता है। यूप अर्थात् यज्ञीय स्तम्भ भी इसी की लकड़ी का बनता है। यज्ञोपवीत के अवसर पर ब्रह्मचारी जिस 'दण्ड' को धारण करता है वह पलाश की लकड़ी का ही बना होता है। कालिदास ने कुमारसम्भव में ब्रह्मचारी का वेश धारण करने वाले शिव द्वारा पलाश का दण्ड धारण कराया है।[1] मनु ने लिखा है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत के अवसर पर पलाश दण्ड धारण करना चाहिए[2]। प्राचीन काल से यह वैदिक प्रथा थी कि जब गायों को उनके बछड़ों से अलग करना होता था तब उन्हें पलाश के डण्डे से मार कर भगाते थे। भोजपुरी लोकगीतों में अपने पुत्र के यज्ञोपवीत संस्कार के लिए उसका पिता व्याकुल होकर पलाश के दण्ड को जंगल में जाकर काटता हुआ दिखलाया गया है।[3]

अनेक दृष्टियों से यह वृक्ष विलायती रोवेन (Rowan) वृक्ष के समान है। यार्कशायर के लोग इस वृक्ष की लकड़ी के कोड़े बना कर रखते थे। उन लोगों का विश्वास था कि इससे उनके घोड़ों को स्थिरता प्राप्त होती है, जो किसी डाइन के जादू के द्वारा चंचल कर दिए जाते हैं। स्काटलैंड के कुछ भागों में ग्वालिनें इस वृक्ष की टहनी को अपने पास उन भूतों को भगाने के लिये रखती हैं जो कभी-कभी गायों के भीतर घुस जाते हैं। जर्मनी में लोगों का ऐसा विश्वास है कि यदि इस वृक्ष के डण्डे से गाय को मारा जाय तो वह अधिक दूध देने लगती है।[4]

१२–नारियल

नारियल के वृक्ष को संस्कृत में 'नारिकेल' कहते हैं। इस वृक्ष का फल बड़ा पवित्र माना जाता है। यह सन्तानोत्पत्ति का प्रतीक है। अतः भक्त लोग मन्दिरों में देवताओं पर इसे चढ़ाते हैं। सन्तान की कामना करने वाली स्त्रियों को पुजारी या पुरोहित प्रसाद रूप में नारियल का फल देते हैं। नारियल की पवित्रता का कारण

---

१. अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाक्, ज्वलन्निव वीर्यमयेन तेजसा। –कु. सं. ५।
२. मनुस्मृति।
३. उपाध्याय — भो. ग्रा. गी., भाग १, पृ. १०८।
४. क्रुक — पा. टि., भाग २, पृ. ११३।

संभवतः मनुष्य के सिर के समान उसकी आकृति का होना है। इसीलिए प्राचीन काल में जहाँ नर-बलि का विधान था वहाँ अब नारियल की बलि चढ़ाकर ही संतोष किया जाता है। ऐसा करने में उतना ही पुण्य समझा जाता है जितना नर-बलि देने में। प्रत्येक यज्ञीय होम में नारियल की आहुति देना पवित्र समझा जाता है। प्राचीन काल में ब्राह्मण लोग राजाओं से भेंट करते समय उन्हें नारियल और यज्ञोपवीत समर्पित करते थे।

नारियल के भीतरी भाग को गरी कहते हैं, जो खाने के काम में आती है। इस गरी के भीतर जो जल होता है वह 'डाभ' कहा जाता है। बंगाल में कच्चे नारियल के 'डाभ' को पीने की बड़ी प्रथा है, जो बड़ा स्वादिष्ट और मीठा होता है। नारियल के छिलके की रस्सी बनाई जाती है तथा गद्दे बनाने के काम में भी लाया जाता है।

उत्तरी भारत में नारियल के वृक्ष का उतना आदर नहीं है जितना उसकी जन्म-भूमि दक्षिणी भारत में है। गुजरात और कनारा में यह गृह-देवता का प्रतीक समझा जाता है और कुल-देवता के रूप में इसकी पूजा की जाती है। महाराष्ट्र प्रान्त के कोंकण प्रदेश के कुनबी जाति के लोग अपने प्रत्येक मृत संबंधी के लिए एक नारियल रखते हैं और इसकी पूजा करते हैं। ये लोग धान काटने के पहिले एक नारियल को फोड़ते हैं और उसे खेत काटने वालों में बाँट देते हैं। प्रभु जाति के लोग जहाँ तीन रास्ते मिलते हैं वहाँ वर के सिर के चारों ओर नारियल को घुमाते हैं और उसे टुकड़े-टुकड़े कर फेंक देते हैं। उनका विश्वास है कि इससे भूतों का बुरा प्रभाव वर के ऊपर नहीं पड़ने पाता[१]। भोजपुरी प्रदेश में तिलक के अवसर पर वर के हाथों में रुपया और सुपारी के साथ नारियल भी दिया जाता है। धनी लोग असली नारियल के अतिरिक्त चाँदी या सोने का बना नारियल भी वर को अर्पित करते हैं।

संन्यासी लोगों को जल-समाधि देने के पूर्व उनके सिर को नारियल से फोड़ा जाता है, जिससे उनके प्राण 'ब्रह्मरन्ध्र' के द्वारा निकल सकें। पश्चिमी भारत में, वर्षा के अन्त में, समुद्र को शान्त रखने के लिये उसमें नारियल फेंके जाते हैं।[२]

१३—चन्दन

चन्दन का वृक्ष बहुत कम पाया जाता है। संस्कृत के किसी कवि ने 'चन्दनं न वने वने' लिख कर इसकी दुर्लभता की ओर संकेत किया है। ऐसी प्रसिद्धि है कि चन्दन के वृक्ष में सदा साँप लिपटे रहते हैं। यह वृक्ष शीतल होता है। संभवतः इसीलिये साँप इसे अपना निवास-स्थान बनाये रहते हैं। परन्तु सर्पों के निवास से उनके विष का प्रभाव इसपर तनिक भी नहीं पड़ता। रहीम ने अपने एक दोहे में इस तथ्य की ओर संकेत किया है[३]। लोगों का ऐसा विश्वास है कि चन्दन वृक्ष की वायु जिन वृक्षों में लगती है वे

---

१. क्रुक—पा. टि., भाग २, पृ. १०६।

२. वही—पृ. १०६।

३. जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥

भी चन्दन के रूप में परिणत हो जाते हैं अथवा वे भी चन्दन के समान सुगन्धित हो जाते हैं। संस्कृत के एक कवि ने चन्दन वृक्ष की प्रशंसा करते हुए उसके इस अलौकिक गुण का उल्लेख किया है।[1]

दक्षिण भारत में मलय पर्वत पर चन्दन के वृक्षों की स्थिति मानी जाती है। उन चन्दन के वृक्षों को स्पर्श कर चलने वाली वायु को 'मलयानिल' कहते हैं, जो शीतल, मन्द और सुगन्ध होती है। आजकल मैसूर राज्य में चन्दन के पेड़ प्रचुरता से पाये जाते हैं, जो स्टेट की सम्पत्ति (स्टेट मोनोपोली) समझे जाते हैं।

चन्दन की लकड़ी परम पवित्र मानी जाती है, जिसका कारण इसकी सुगन्धि और शीतलता है। वैष्णव लोग चन्दन को घिसकर अपने ललाट पर तिलक लगाते हैं, जो उनके सम्प्रदाय का एक विशेष चिह्न है। भक्त लोग तथा धार्मिक पुरुष मन्दिरों में 'धूप' जलाते हैं, जो चन्दन की लकड़ी को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर बनाया जाता है। देवता के सामने 'धूप' देना बड़ा पुण्यकारक समझा जाता है। कुछ लोग तुलसी के पौधे के पास तथा अपने घर में 'धूप' जलाते हैं, जिससे घर का दूषित वातावरण नष्ट हो जाता है। हवन करते समय धूप में यव और तिल मिला कर उसकी आहुति देते हैं। यज्ञोपवीत तथा विवाह के अवसर पर यज्ञ में 'धूप' की आहुति दी जाती है।

धनी लोग मृत व्यक्ति के शव को जलाने के लिए केवल चन्दन की (लकड़ी की) चिता सजाते हैं, जो बहुत पवित्र समझी जाती है। जो लोग निर्धन हैं वे चिता में चन्दन का एक या दो टुकड़ा जलाकर उसकी पवित्रता की रक्षा करते हैं। केवल 'चन्दन की चिता' पर जलने का सौभाग्य बिरले भाग्यवानों को ही प्राप्त होता है। चन्दन की लकड़ी परम पुनीत एवं पवित्र है और यह अपनी पवित्रता में अद्वितीय है। बम्बई राज्य में पारसी लोग सन्ध्याकाल में प्रतिदिन चन्दन की लकड़ी के टुकड़ों को अपने घरों में जलाते हैं, जिसकी सुगन्ध से उनका विश्वास है कि दुष्ट आत्मायें भग जाती हैं। चन्दन का चूरा घरों में सुगन्धि के लिए भी जलाया जाता है।

१४—भूर्ज

भूर्ज वृक्ष भी बहुत पवित्र माना जाता है। इसके छिलके को 'भोजपत्र' कहते हैं, जो तन्त्र-मन्त्र लिखने के लिए प्रयुक्त होता है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि इस वृक्ष में दुष्ट आत्माओं को दूर करने की शक्ति होती है। भोजपत्र पर लाल चन्दन की स्याही से मन्त्र लिखा जाता है और उसको सोने या ताँबे में मढ़ाकर ताबीज बनाकर रोगी के गले या बाँह में पहिना दिया जाता है। इससे रोगी का रोग दूर हो जाता है। अनेक रहस्य-मन्त्रों तथा यन्त्रों के बनाने में भी भोजपत्र का उपयोग किया जाता है। प्राचीन भारत में जब कागज का अभाव था तब इसी वृक्ष की छाल पर पुस्तकें लिखी जाती थीं। भोजपत्र पर लिखी गई पुस्तकें पवित्र मानी जाती हैं।

१. किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा, यत्र स्थितास्तु तरवः तरवस्तु एव। निम्बकुटजाः अपि चन्दनाः स्युः

१५—इमली

इमली का वृक्ष बड़ा विशाल होता है। इसकी पत्तियाँ बहुत छोटी होती हैं। इसका फल लम्बा-लम्बा होता है, जिसको 'फहुआ' कहते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि इमली का वृक्ष तीस वर्ष के बाद फल देता है, जैसा कि इस कहावत से स्पष्ट लक्षित होता है :—

"पाँचे आम पचीसे महुआ।
तीस बरिस पर इमली के 'फहुआ'॥"

अर्थात् आम का वृक्ष पाँच वर्ष पर, महुआ पचीस वर्ष के बाद और इमली का वृक्ष तीस वर्ष के पश्चात् फल देता है। इमली के बीज को 'चियाँ' कहते हैं, जो अनेक रोगों में औषधि के रूप में प्रयुक्त होता है।

इमली के पेड़ पर चुड़ैल तथा भूतों का आवास माना जाता है। उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के बैरिया नामक गाँव के पूर्व की ओर एक इमली का सुप्रसिद्ध वृक्ष है जिस पर एक दुःसाध (एक जाति विशेष) की प्रेतात्मा भूत के रूप में निवास करती है।

बिहार की ओराँव नामक जाति के लोग इमली के वृक्ष की पूजा करते हैं। वे अपने मृतकों को इस वृक्ष की छाया में गाड़ते हैं।[१] द्रविड़ जातियों में 'इमली घोंटने' की प्रथा है जब वर की माता पत्थर पर इमली के बीज को पीसती या रगड़ती है। भोजपुरी प्रदेश में भी 'इमली घोंटाने' की प्रथा है। परन्तु इस प्रथा का सम्बन्ध इमली से बिल्कुल नहीं है। इमली के वृक्ष को पवित्र नहीं माना जाता, अतएव किसी शुभ कार्य में इसकी लकड़ी का उपयोग नहीं होता।

१६—अनार

अनार को संस्कृत में 'दाड़िम' कहते हैं। इसका फल बड़ा सुन्दर एवं स्वादिष्ट होता है। इसके सेवन से शरीर में रक्त की प्रचुर वृद्धि होती है। अनार के अनेक भेद होते हैं, जिनमें 'बेदाना' बड़ा प्रसिद्ध है। यह फल विशेषतया प्रचुर रूप से काबुल में पैदा होता है। अतएव 'काबुली अनार' श्रेष्ठता में अपना सानी नहीं रखता। काबुल जैसे प्रदेश में अनार और अंगूर जैसे सुन्दर फलों को पैदा करने वाले भगवान् से चिढ़कर किसी भक्त ने कितनी मार्मिक उक्ति कही है—

"काबुल में मेवा करी, व्रज में टंटी फूल।
कहीं कहीं गोविन्द की गई सिटल्ली भूल॥"

लोगों का ऐसा विश्वास है कि अनार वृक्ष के नीचे धुँआ करने से इसका फल शीघ्र ही पक जाता है। महाकवि श्रीहर्ष ने नैषधीय चरित के प्रथम सर्ग में इस तथ्य का उल्लेख किया है। बम्बई के पारसी लोग इस वृक्ष का बड़ा सम्मान करते हैं। इसकी शाखायें पवित्र झाड़ू के काम में और इसके बीज प्रेतात्माओं को भगाने के काम में लाये जाते हैं।

१. डाल्टन — डिस्क्रिप्टिव एथ्नोलोजी, पृ. १८६।

मरते हुए व्यक्ति के मुख में इस फल के रस को निचोड़ कर देते हैं[१]। उत्तरी भारत में इस वृक्ष को अपने घर में लगाना अमंगलकारी समझा जाता है, क्योंकि यह बड़ा ईर्ष्यालु होता है तथा अपने समान किसी को सुन्दर नहीं समझता।

१७—खैर

खैर के वृक्ष को संस्कृत में 'खदिर' कहते हैं। इस वृक्ष का महत्त्व संभवतः इस कारण है कि इसकी लकड़ी का उपयोग पवित्र यज्ञीय अग्नि को उत्पन्न करने में किया जाता है। इस वृक्ष की लकड़ी बड़ी सख्त होती है। अतएव अग्नि मन्थन के समय अरणी—वह लकड़ी जिसे घुमा कर आग पैदा की जाती है—का निचला भाग इसी लकड़ी का बनाया जाता है। यूप अर्थात् यज्ञीय स्तम्भ–जिसमें बाँधकर पशुओं की बलि दी जाती है—प्रायः इसी लकड़ी का बना होता है। रामायण में वर्णित सुप्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ में इक्कीस (२१) यूप स्थापित किये गये थे, जिनमें छः विल्व (बेल) वृक्ष, छः खदिर (खैर) वृक्ष, छः पलाश वृक्ष और एक-एक उदुम्बर (गूलर), श्लेष्मांतक तथा देवदारु वृक्ष की लकड़ी से बनाये गये थे। विशाप हेवर ने लिखा है[२] कि मुझे लोगों ने बतलाया कि खैर का वृक्ष रात को सोता है और दिन में जागता है। इस वृक्ष पर जादू का प्रभाव बिल्कुल नहीं पड़ता। यदि इसकी छोटी टहनी पगड़ी में रख ली जाय अथवा चारपाई से लटका दी जाय तो न तो उस व्यक्ति पर किसी की नजर लग सकती है और न किसी जादू का ही प्रभाव उसके ऊपर पड़ सकता है।

खैर के वृक्ष से कत्था तैयार होता है, जिसे लोग पान में लगाकर खाते हैं। चूँकि खैर का वृक्ष रात को सोता रहता है अतः बहुत-से धार्मिक हिन्दू रात को पान नहीं खाते, क्योंकि कत्था उसका एक अंग होता है। कत्थे का प्रयोग दवा के रूप में भी किया जाता है।

१८—बबूल

यह वृक्ष—जिसे बबूल या 'कीकर' भी कहते हैं—भोजपुरी प्रदेश में प्रचुरता से पाया जाता है। इसमें फूल तथा फल भी लगते हैं; परन्तु उनका कुछ भी उपयोग नहीं होता। इसीलिए एक कवि ने सारहीन जीवन की उपमा बबूल के वृक्ष से दी है। इस वृक्ष को अशुद्ध या अपवित्र माना जाता है। अतएव इसकी लकड़ी का उपयोग किसी पवित्र कार्य में नहीं किया जाता। इस वृक्ष पर चुड़ैल का निवास बतलाया जाता है। इसकी पत्तियों को—जो बहुत छोटी छोटी होती हैं—'बबुरी' कहते। इसका उपयोग दवा के रूप में होता है।

क्रुक ने लिखा है कि कुछ मुसलमानों ने लाहौर में एक मन्दिर के समीप स्थित बबूल के वृक्ष को काटने का प्रयत्न किया; परन्तु उसमें से खून की लाल लाल बूँदें गिरने

१. नार्थ इण्डियन नोट्स एण्ड क्वेरीज़ — भाग १, पृ. २०७।
. नरेटिव—भाग १, पृ. २८७।

लगीं जिससे डर कर उन्हों ने इसे काटना छोड़ दिया।[1] यदि बबूल के वृक्ष की जड़ में लगातार तेरह दिन तक पानी दिया जाय तो उसपर रहने वाली प्रेतात्मा को अपने वश में किया जा सकता है। क्रुक ने सहारनपुर जिले की एक सच्ची घटना का उल्लेख किया है। किसी मृत व्यक्ति को उसके संबंधी श्मशान ले गये। परन्तु उसकी चिता में ज्योंही आग लगाई गई त्योंही वह उठ बैठा। वह व्यक्ति आज तक जीवित है।[2] लोगों का ऐसा विश्वास है कि उसने बबूल के वृक्ष पर रहने वाली प्रेतात्मा को अपने वश में किया था। महाकवि तुलसीदास जी की जीवनी में भी एक ऐसी ही घटना का उल्लेख है।[3] गोस्वामीजी शौच के लिए सदा बाहर मैदान में जाया करते थे, जहाँ एक बबूल का वृक्ष था। वे शौच से बचे हुए जल को नित्यप्रति उस वृक्ष की जड़ में डाल दिया करते थे। एक दिन उस वृक्ष पर रहने वाली प्रेतात्मा ने तुलसीदास जी से प्रसन्न होकर कुछ वर माँगने को कहा; परन्तु सन्त तुलसी को किसी पार्थिव वस्तु की आवश्यकता हो न थी।

बबूल की लकड़ी अपवित्र होने के कारण शव को जलाने के काम में नहीं लाई जाती। परन्तु यदि कोई मनुष्य शव को इसकी लकड़ी से जलावे तो मृत व्यक्ति की प्रेतात्मा को कभी शान्ति नहीं मिलती। बबूल की लकड़ी की बनी हुई चारपाई पर सोने वाला व्यक्ति अनेक बुरे-बुरे स्वप्नों को देखता है, ऐसा लोगों का विश्वास है। क्रुक ने लिखा है कि उसके एक बूढ़े नौकर ने उसको बबूल की चारपाई पर न सोने के लिए गंभीर चेतावनी दी थी। उसका कहना था कि ऐसी चारपाई पर पादरी ही सो सकते हैं, जो अपने पेशे की बदौलत प्रेतात्माओं के आक्रमण से सुरक्षित हैं[4]।

लोगों की ऐसी धारणा है कि यदि बबूल के फल को किन्हीं दो व्यक्तियों के घर में फेंक दिया जाय तो उनमें आपस में झगड़ा लग जाता है। इसलिए जो लोग किन्हीं दो व्यक्तियों में झगड़ा लगाना चाहते हैं वे उनके घर की छतों पर इस वृक्ष के फल को फेंक देते हैं। इस वृक्ष की छाल (त्वचा) का उपयोग दवा के रूप में किया जाता है। इससे गोंद भी निकलता है, जिसे बहुत-से लोग घी में भून कर खाते हैं। इसके गोंद को खाना बल-वर्धक समझा जाता है।

१९—ताड़

भोजपुरी प्रदेश में यह वृक्ष अधिकता से पाया जाता है। यह बहुत लम्बा होता है जिसमें शाखायें नहीं होतीं। इस वृक्ष के केवल सिरे पर लम्बी-लम्बी पत्तियाँ होती हैं। भोजपुरी में इस वृक्ष को 'तरकुल' कहते हैं जो 'ताड़कुल' का अपभ्रंश ज्ञान पड़ता है। इसका फल 'सिरिफल' के समान गोल तथा बड़ा होता है जिसे '............' कहते हैं। इसके फल में रस बहुत होता है जो इसके रेशों में लिपटा रहता है। अतः लड़के इसके फल में लकड़ी डालकर उसे 'पेर' कर रस निकालते हैं और उसे खाते हैं। इसकी

---

१. क्रुक—पा. रि., भाग २, पृ. ११४-१५।
२. वही—पा. रि., भाग २, पृ. ११४-१५।
३. स्यामसुन्दर दास – गोस्वामी तुलसीदास।
४. क्रुक – पा. रि., भाग २, पृ. ११५।

डण्ठल को काटने से एक सफेद मादक द्रव पदार्थ निकलता है जिसे 'ताड़ी' कहते हैं। बिहार के आरा जिले में ताड़ वृक्षों के पास बहुत से 'ताड़ीखाने' मिलते हैं जहाँ 'ताड़ी' बेची जाती है। भोजपुरी प्रदेश की नीची जातियाँ 'ताड़ी' को बड़े शौक से पीती हैं, जिसका प्रभाव शराब की भाँति उन्मादक होता है। ताड़ की लम्बी लम्बी पत्तियों से पंखा बनाया जाता है जिसकी हवा बड़ी शीतल होती है। ताड़ का वृक्ष अपवित्र माना जाता है। इसकी लकड़ी किसी काम में नहीं आती, परन्तु कहीं कहीं इसके लम्बे तने से नदी-नाला पार करने के लिए पुल का काम लिया जाता है।

ऐसा विश्वास है कि यदि ताड़ का फल चारपाई के ऊपर रख दिया जाय तो उसमें खटमल पैदा हो जाते हैं। अतः स्त्रियाँ इसके फल को घर में चारपाई पर नहीं रखने देतीं। लोक-कथाओं में ताड़ वृक्ष का उल्लेख अनेक स्थानों में पाया जाता है। एक बार कोई गीदड़—जिसे भोजपुरी में 'सियार' कहते हैं—ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्ड धूप से संतप्त होकर छाया के लिए ताड़ वृक्ष के नीचे गया। अभी वह कुछ ही क्षण वहाँ विश्राम करने पाया था कि इतने ही में ताड़का एक बड़ा फल उसके सिर पर आ गिरा जिसकी चोट से उसकी खोपड़ी फट गयी। वह यह कहते हुए वहाँ से भगा कि 'फेरु फेरु सियार अब तरकुल तर अइहें' अर्थात् गीदड़ अब फिर इस ताड़ वृक्ष के नीचे नहीं आयेगा। यदि कभी कोई विश्वासपात्र व्यक्ति धोखा देता है तो भोजपुरी में इस कहावत का प्रयोग किया जाता है।

ताड़ का वृक्ष बहुत लम्बा और काला होता है, अतः भूतों की लम्बाई की उपमा इस वृक्ष से दी जाती है। भूतों का उपमान होने के कारण इस वृक्ष पर उनका निवास बतलाया जाता है। प्रचण्ड हवा के झोंकों के कारण इसकी पत्तियों की रगड़ से 'हड़' 'हड़' की आवाज उत्पन्न होती है जो बड़ी भयानक समझी जाती है। स्त्रियाँ इस आवाज का कारण इस वृक्ष पर भूतों का निवास बतलाती हैं।

आँख में अञ्जनहारी—जिसे भोजपुरी में 'अँखीजनी' कहते हैं—होने पर दाहिने हाथ की कनिष्ठि अँगुली से 'अँखीजनी' को रगड़ते हैं और फिर इसी अँगुली से ताड़ वृक्ष को 'रिगाते' हैं अर्थात् इस अँगुली को टेढ़ी करके हिलाते हैं तथा इस वृक्ष की ओर संकेत करते हैं। ऐसा करने से अंजनहारी शीघ्र ही सूख जाती हैं।

२०—कदम्ब

इस वृक्ष को भोजपुरी में 'कदम' कहते हैं, जो संस्कृत 'कदम्ब' का अपभ्रंश है। यह वृक्ष बड़ा पवित्र माना जाता है। इसका कारण भगवान् श्रीकृष्ण की क्रीड़ाओं के साथ इसका संबंध है। श्रीकृष्ण मथुरा में यमुना के किनारे स्थित कदम्ब के वृक्ष के नीचे बैठकर अपनी मोहिनी मुरली बजाया करते थे। गोपियों का चीर-हरण कर वे जिस वृक्ष पर चढ़कर छिपे बैठे थे वह सम्भवतः कदम्ब का ही वृक्ष था। इसलिए संस्कृत साहित्य में इस वृक्ष का उल्लेख प्रचुरता से पाया जाता है।

इसका फूल पीला होता है, जो देखने में बड़ा सुन्दर मालूम होता है। इसका वृक्ष बड़ा विशाल होता है, जिसकी छाया बड़ी शीतल होती है। लोगों का विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्ण इसपर निवास करते हैं। इसीलिए इसकी पूजा कार्तिक मास के अतिरिक्त भाद्र मास में भी होती है, जिसमें श्रीकृष्ण पैदा हुए थे।

लोक-गीतों में कदम्ब वृक्ष का उल्लेख अनेक बार हुआ है। एक लोक-गीत में यमुना के किनारे कदम्ब वृक्ष के नीचे श्रीकृष्ण द्वारा मुरली बजाने का वर्णन हुआ है। गीत इस प्रकार है—

'जमुना के तीरवा कदम गँछिया।
ताहि तर मुरली बजावेला मोहन रसिया॥'

एक दूसरे गीत में राधा का इस वृक्ष पर झूला लगा कर झूलने का उल्लेख किया गया है।

"झूला झूले कदम्ब की डारी।
झूले राधा प्यारी ना॥"

इसी प्रकार से लोक-कथाओं में भी इस वृक्ष का उल्लेख पाया जाता है।

२१—बेर

इस वृक्ष के फल को संस्कृत में 'बदरी फल' और भोजपुरी में 'बइरि' कहते हैं। यह खाने में स्वादिष्ट होता है। यह वृक्ष अपवित्र माना जाता है; अतः इसकी लकड़ी का उपयोग किसी पवित्र कार्य में नहीं किया जाता है। बेर के पेड़ को लगाना बुरा समझा जाता है क्योंकि जहाँ इसका पेड़ होता है वहाँ आपस में झगड़ा होने की आशंका सदा बनी रहती है। इसीलिए जिसके द्वार पर यह वृक्ष उगता है वह इसे काट कर फेंक देता है।[१]

आँख में अंजनहारी होने पर बेर वृक्ष की सात पत्तियों को तोड़ा जाता है। एक पत्ती के ऊपर एक रखकर, इन सभी पत्तियों को किसी काँटे से छेदकर तथा इन्हें सूत में बाँधकर घर में लटका दिया जाता है। लोगों का विश्वास है कि जैसे-जैसे ये पत्तियाँ सूखती जाती हैं वैसे-वैसे अंजनहारी भी सूखती जाती है। इसके फल—बइरि को देवता के ऊपर चढ़ाया जाता है। भगवान् राम ने शबरी के जूठे बेर खाये थे। सम्भवतः इसीलिए देवताओं को यह फल बड़ा प्रिय है। महाशिवरात्रि के दिन शिव की मूर्ति के ऊपर प्रचुर परिमाण में बेर चढ़ाए जाते हैं। देवोत्थानी एकादशी के दिन बेर से देवता की पूजा कर इस फल को खाना महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। सत्यनारायण की कथा में बेर का फल भक्तों को प्रसाद रूप में दिया जाता है। इस प्रकार यह फल सभी मांगलिक अवसरों पर उपयोग में लाया जाता है।

उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के सोनबर्सा नामक गाँव में इन पंक्तियों के लेखक के द्वार पर एक बेर का पेड़ था, जिसके कारण पड़ोसियों से बड़ा झगड़ा हुआ करता था। एक दिन क्रोध में आकर उसके बड़े भाई ने इस वृक्ष को काट दिया। तब से पड़ोसियों के साथ जो झगड़ा होता था वह शान्त हो गया।

२२—कटहल

भोजपुरी प्रदेश में यह वृक्ष बड़ा प्रसिद्ध है। इसका फल सब फलों में बड़ा होता है। कभी-कभी इसका एक फल वजन में चार पाँच पसेरी (धड़ी) से भी बड़ा होता है। अन्य फल वृक्षों की शाखाओं में लगते हैं परन्तु यह फल इस वृक्ष की शाखाओं के अतिरिक्त इसकी जड़ और तने में भी लगता है तथा प्रचुर परिमाण में पैदा होता है। इसके छोटे फल को 'लेढ़ा' कहते हैं जो प्रायः सूख कर आप ही आप नष्ट हो जाता है। इसीलिए भोजपुरी प्रदेश में निष्क्रिय, आलसी तथा अवारे लड़कों को 'लेढ़ा' कहा जाता है। 'लेढ़ा' जब बड़ा हो जाता है तब उसे 'कटहल' कहते हैं कटहल जब पक जाता है तब उसके भीतर के फल को 'कोआ' कहते हैं जो खाने में बड़ा स्वादिष्ट होता है। 'कोआ' को अधिक खा लेने से पेट में दर्द होने की आशंका रहती है। अतएव 'कोआ' खा लेने के पश्चात् थोड़ा घी पीना आवश्यक माना जाता है। घी कोआ के दोष का नाश करने में एण्टीडोट समझा जाता है।

कटहल की पत्तियों की पत्तल बनाया जाती है, जिसमें लोग श्राद्ध के समय भोजन करते हैं। श्राद्ध के अवसर पर इसकी पत्तियों का 'दोना' (पुट) बनाया जाता है, जिसमें मृत व्यक्ति के लिए पिण्ड रखा जाता है। श्राद्ध के समय अनेक विधि-विधानों को संपादित करने के लिए कटहल की ही पत्तियों का उपयोग किया जाता है। विवाह करने के लिए जाने वाले वर की पालकी प्रायः इसी वृक्ष की लकड़ी से बनाई जाती है। इसकी लकड़ी का रंग पीला और वजन हल्का होता है। इसीलिए यह लकड़ी पालकी बनाने के लिए उपयुक्त समझी जाती है।

(ख) पौधा

२३—तुलसी

तुलसी का पौधा परम पवित्र माना जाता है। विष्णु की पूजा से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपनी उपयोगिता के कारण भी यह पौधा पूजनीय तथा पवित्र समझा जाता है। शायद ही ऐसा कोई हिन्दू घर होगा जिसमें इस पौधे की पूजा न की जाती हो। सन् १८९१ की जनसंख्या गणना में उत्तर प्रदेश में—जिसे उन दिनों में उत्तर-पश्चिमी प्रान्त कहते थे—तुलसी के पूजकों या भक्तों की संख्या ग्यारह हजार थी[१]। परन्तु सत्य तो यह है कि प्रत्येक हिन्दू तुलसी का पूजक है। तुलसी की पूजा माता के रूप में की जाती है। इसीलिए इन्हें 'तुलसी माता' भी कहते हैं।

संस्कृत में तुलसी को 'हरिप्रिया' कहते हैं, जिसका अर्थ विष्णु की प्रेमिका है। इसे 'भूतघ्नी' भी कहा जाता है जिसका अर्थ भूतों को नष्ट करने वाला होता है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि जहाँ तुलसी का पौधा होता है वहाँ भूत नहीं आते। इस प्रकार

१. क्रुक—पा. रि. भाग २, पृ. ११०।

तुलसी का 'भूतघ्नी' नाम सार्थक है। तुलसी के सम्बन्ध में बहुत-सी पौराणिक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक इस प्रकार है—

एक बार भगवान् विष्णु वृन्दा—जो जालन्धर की स्त्री थी—की अलौकिक सुन्दरता को देखकर उसपर मोहित हो गये। उनको इस मोह से छुड़ाने के लिए देवताओं ने लक्ष्मी, गौरी और स्वधा से प्रार्थना की। इनमें से प्रत्येक ने देवताओं को एक बीज उस स्थान पर बोने के लिए दिया जहाँ पर विष्णु मोहित हुए थे। देवताओं ने उन बीजों को उस स्थान पर बो दिया और उससे धात्री, मालती और तुलसी की उत्पति हुई। इन्हों ने स्त्री रूप धारण कर विष्णु को अपने सौन्दर्य से आकर्षित कर लिया और इस प्रकार उन्हें वृन्दा के जाल से बचाया[1]। सम्भवतः इसीलिए तुलसी का नाम 'हरिप्रिया' पड़ गया।

यों तो तुलसी की पूजा बारहों महीने की जाती है परन्तु कार्तिक मास में इनकी पूजा का विशेष माहात्म्य है। स्त्रियाँ घर में तुलसी के पौधे को लगाती हैं और उनकी पूजा अक्षत, रोरी, पुष्प और नैवेद्य चढ़ा कर करती हैं। स्त्रियाँ प्रातःकाल तथा सन्ध्या को इस पौधे के पास घी का दीपक जलाकर तुलसी की आरती करती हैं। वे गंगाजल से इस पौधे को अर्घ देती हैं; परन्तु जहाँ गंगाजल नहीं मिल सकता वहाँ कूप के शुद्ध जल से ही यह काम किया जाता है। तुलसीजी पर निम्नलिखित मन्त्र को पढ़ कर जल चढ़ाया जाता है।

"करिया तुलसी साँवर बान।
तुलसी लाँई, सदा फल पाँई।
पाँच पदारथ सोना पाँई।
तुलसी महरानी एहि जग नाहीं।
जनम जनम के पाप कटिंत करीं।
तुलसी महरानी नमोनमः।"

तुलसी जी की पूजा करने का मन्त्र यह है—

"घट में तुलसी मुख में राम।
जब भजीं तब सीता-राम॥"

रविवार और मंगलवार को तुलसी की पत्तियों को तोड़ना निषिद्ध है। यदि इस दिन इसकी पत्तियों की आवश्यकता होती है तो इसके पौधे को जड़ से हिला देते हैं जिससे इसकी पुरानी, पीली पत्तियाँ स्वतः गिर जाती हैं; परन्तु इन्हें तोड़ते नहीं। इसकी पत्ती को गर्म जल में डाल कर उबालना मना है; क्योंकि लोगों का विश्वास है कि इससे तुलसी माता की आत्मा को कष्ट पहुँचता है। भक्त लोग भोजन में तुलसी की पत्ती डाल कर उसे भगवान् को 'भोग' लगाते हैं। भोज के अवसर पर भोजन के भाण्डार में तुलसी की पत्तियाँ डाल दी जाती हैं। लोगों की दृढ़ धारणा है कि ऐसा करने से कितने भी

१. बिल्सन – 'वर्क्स', भाग ३, पृ. ६८।

आदमियों को खिलाया जाय परन्तु भाण्डार में कमी नहीं होती[1]। तुलसी की पत्तियों को पूजा में विष्णु भगवान् के ऊपर चढ़ाते हैं। शालिग्राम की प्रतिमा की पूजा तुलसी की पत्तियों के बिना नहीं हो सकती। लोगों का ऐसा विश्वास है कि यदि शालिग्राम पर इसकी पत्तियों को न चढ़ाया जाय तो उनका सिर दर्द करने लगता है। कार्तिक मास के शुक्ल-पक्ष की देवोत्थान एकादशी के दिन विष्णु की पूजा तुलसी के दलों से की जाती है। इस दिन विष्णु की प्रतिमा पर तुलसी की पत्तियाँ प्रचुर मात्रा में चढ़ाई जाती हैं। इसी दिन तुलसीजी का विवाह विष्णु से सम्पादित होता है, जिसमें विवाह-सम्बन्धी विधि-विधानों को पूर्णरूप से किया जाता है। धनी लोग इस विवाह में प्रचुर धन खर्च करते हैं।

मरते हुए व्यक्ति के मुख में तुलसी दल और गङ्गाजल डाला जाता है। लोगों का यह विश्वास है कि ऐसा करने से मृत आत्मा को सद्‌गति प्राप्त होती है। इसकी पत्तियाँ अनेक रोगों में दवा के काम में लाई जाती है। इसके पौधे में मच्छरों को नष्ट करने का गुण विद्यमान है। अतः जहाँ यह पौधा लगाया जाता है वहाँ मच्छर नहीं रहते।

तुलसी के पौधे के सूख जाने पर उसे किसी नदी अथवा पवित्र स्थान में फेंक दिया जाता है। इसके सूखे पौधे की डालों से माला बनाई जाती है जो 'तुलसी की माला' के नाम से प्रसिद्ध है। यह माला बड़ी पवित्र समझी जाती है। साधु लोग—विशेषकर वैरागी—इसे अपने गले में धारण करते हैं। ये लोग इस माला की केवल एक बड़ी मनिका को गले में बाँधते हैं जिसे 'कण्ठी' कहते हैं। 'कण्ठी' धारण करना वैरागियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यह उनके सम्प्रदाय का एक विशेष चिह्न है। भक्त लोग भी अपने गले में तुलसी की माला को पहनते हैं और इस माला से 'रामनाम' का जप करते हैं। कुछ लोग परदेश को जाते समय तुलसी के पौधे को घर में लगा जाते हैं। उनके प्रेमी गण—विशेषकर कर उनकी स्त्रियाँ—परदेश में उनके सुखी अथवा दुखी होने की सूचना इसी वृक्ष से प्राप्त करती हैं। अर्थात् जब तक तुलसी का पौधा हरा-भरा रहता है तब तक यह समझा जाता है कि वह व्यक्ति सुखी है, परन्तु जब यह सूखने लगता है तब उसके प्रेमीगण उसके दुःख की आशंका से विह्वल हो उठते हैं। इस प्रकार यह पौधा प्रियगण के सुख-दुख का सूचक है।

लोक-गीतों में तुलसी का उल्लेख अनेक बार किया गया है। कुछ गीत तुलसीजी के संबंध में ही लिखे गये, जिन्हें 'तुलसी माता के गीत' कहते हैं। एक भोजपुरी लोक-गीत में विष्णु या नारायण के साथ तुलसी के विवाह का उल्लेख पाया जाता है, जिसमें विष्णु की स्त्री लक्ष्मी सपत्नी द्वेष के कारण तुलसी को भला-बुरा कहती हैं और उनसे झगड़ा करने पर उतारू हो जाती हैं। वह गीत इस प्रकार है—

१. इन पंक्तियों के लेखक के पूजनीय पिताजी का तुलसी में अटूट विश्वास था। विवाह के अवसर पर वे भोजन-भांडार में तुलसी की पत्तियों को डाल देते थे और कहते थे कि अब बरातियों को खिलाओ। इसके बाद बरातियों को खिलाया जाता था, परन्तु आज तक कभी भी भोजन-भांडार में कमी नहीं हुई।

"कहवहिं तुलसी के नइहर कहवहिं सासुर ए राम।
कहवहिं तुलसी जनमली, त के जरी रोपेला ए राम।
बिरिदाबने तुलसी के नइहर, गोखुला हवे सासुर ए राम।
मथुरा में तुलसी जनमली, मलहोरिया जरी रोपेला ए राम।
मरबि मैं तुलसी के लट धइ, कानो में लसारबि ए राम।
हमरा बालमु सँग सोवेली, त सिरवा गमक देली ए राम।
काहे तुहु मरबु हो लट धइ, कानो में लसरबू ए राम।
श्रारे होइ जाइबि तुलसी के मनिया, त जपिहें नारायन ए राम।
श्रारे होइ जाइबि तुलसी के पतिया, त ठाकुर सिर चढ़बि ए राम।"[१]

लोक-कथाओं में भी तुलसी का उल्लेख पाया जाता है। भोजपुरी प्रदेश में किसी व्यक्ति को 'किरिया खिलाते' (शपथ देते) समय उसके हाथ में तुलसी और गंगाजल दिया जाता है। यह समझा जाता है कि ऐसा करने में वह झूठ नहीं बोल सकता।

भारत के प्रायः सभी राज्यों में तुलसी की पूजा समान रूप से की जाती है। जिस प्रकार वृक्षों में पीपल परम पवित्र माना जाता है उसी प्रकार तुलसी का पौधा सभी पौधों में अत्यन्त पावन समझा जाता है।

२४—केला

केला को संस्कृत में 'कदली' कहते हैं। भोजपुरी में यह 'केरा' के नाम से प्रसिद्ध है। केला का वृक्ष बड़ा सुन्दर होता है। विशेषकर इसका तना बड़ा कोमल और मनोरम होता है। संस्कृत के कवियों ने स्त्रियों के पैर के उपमान के रूप में इसका उल्लेख अपने काव्य-ग्रन्थों में किया है[२]। केला का वृक्ष बड़ा पवित्र माना जाता है। कुछ लोग इसकी पूजा भी करते हैं, जो विशेषतया कार्तिक मास में की जाती है। केले की पत्तियों का प्रयोग भोजन-पात्र के रूप में होता है। व्रत की पारणा के अवसर पर इसकी पत्तियों पर भोजन करना पवित्र समझा जाता है। विवाह के समय तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर केले के वृक्षों से 'फाटक' (द्वार) सजाया जाता है जो शुभ है। विवाह का मण्डप भी केले की पत्तियों से सुशोभित किया जाता है तथा 'माँड़ो' के मध्य में केले की एक शाखा को गाड़ देते हैं जिसके चारों ओर वर और वधू परिक्रमा करते हैं।

उत्तर प्रदेश के नैनीताल में नन्दाष्टमी के दिन नन्दादेवी की मूर्ति केले के स्तम्भ (तना) से बनाई जाती है, जिसकी पूजा पहाड़ी लोग बड़ी श्रद्धा और भक्ति से करते हैं। मद्रास राज्य में यदि किसी स्त्री को बच्चा समय से पहिले पैदा हो जाता है तो उस बच्चे को केले के पत्ते पर सुलाते हैं और उसे तेल लगाते हैं। केले की पत्ती प्रतिदिन इस बच्चे को सुलाने के लिए नई लाई जाती है और यह प्रक्रिया उतने दिनों तक जारी रहती है

१. उपाध्याय—भो. ग्रा. गी., भाग २, पृ. ५५।
२. कदली कदली करभः करभः, करिराजकरः करिराजकरः।
भुवन त्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

जितने दिन पहिले बच्चा पैदा हुआ होता है।[1] बंगाल में दुर्गा की प्रतिमा के अभिषेक के अवसर पर केले के वृक्ष को काट कर लाया जाता है। स्त्री के समान इसको वस्त्रों से विभूषित करते हैं और इसके पश्चात् इसकी पूजा की जाती है[2]।

केले का फल पवित्र होता है। इसे देवताओं के ऊपर उनकी पूजा के अवसर पर चढ़ाया जाता है। सत्यनारायण की कथा में 'प्रसाद' के रूप में इस फल को भक्तों में बाँटा जाता है। विवाह के मण्डप को सजाने के लिए केले के फल को उसमें टाँगते हैं। केले के एक फूल में हजारों फलियाँ एक साथ लगती हैं। अतएव यह बहु सन्तानोत्पत्ति का प्रतीक समझा जाता है। कार्त्तिक के शुक्लपक्ष की षष्ठी के दिन—जिसे छठी माता का व्रत कहा जाता है—स्त्रियाँ केले की 'घवदि' को लेकर पानी में तब तक खड़ी रहती हैं जब तक सूर्योदय नहीं हो जाता। वे सूर्य के निकलने पर ही अर्घ देती हैं। यह व्रत पुत्रोत्पत्ति के लिए किया जाता है। संभवतः इसीलिए केले के फल की प्रधानता इस पूजा में होती है। केले की पत्तियों तथा इसके फल का उपयोग दवा के रूप में किया जाता है।

लोक-कथाओं में केले का उल्लेख अनेक बार हुआ है। किसी व्यक्ति ने एक नौकर को रखा और उससे कहा कि तुम्हें किसी वृक्ष की केवल एक पत्ती पर जितना भोजन परोसा जा सकता है उतना ही खाने को मिलेगा। चतुर नौकर ने केले के पत्ते को लाकर रख दिया और अन्तमें उसके मालिक को मूर्ख बनकर उसे प्रचुर परिमाण में भोजन देना पड़ा। लोक-गीतों में भी केले का वर्णन पाया जाता है, जहाँ पैरों की उपमा इसके 'तने' से दी गई है।[3]

(ग) घास

२५—कुश

भोजपुरी में इसे 'कुस' कहते हैं। यह अधिकतर नदियों के किनारे प्रचुर मात्रा में आपसे आप पैदा होता है। वर्ष के एक मास में एकादशी के दिन इसे उखाड़ कर रखने का बड़ा माहात्म्य है। इसलिए इस एकादशी का नाम ही 'कुशोत्पाटनी एकादशी' पड़ गया है। पण्डित, पुरोहित एवं पण्डा लोग वर्ष में केवल इसी दिन कुश को उखाड़ते हैं और सालभर तक इसी कुश का उपयोग करते हैं। कुशोत्पाटनी एकादशी के दिन कुश को 'ओ३म् फट् स्वाहा' 'ओ३म् फट् स्वाहा' मन्त्र पढ़कर उखाड़ा जाता है।

कुश की पवित्रता के कारण इसका उपयोग सभी मांगलिक कार्यों में किया जाता है। विवाह में वेदी में ऊपर कुश बिछाया जाता है, जिसपर पूजन का कार्य होता है।

---

१. क्रुक—पा० रि०, भाग २, पृ० १०८।
२. वार्ड—हिन्दूज, भाग २, पृ. १३; कैम्पवेल के 'नोट्स', पृ. २२९ में उद्धृत।
३. उपाध्याय—भो० ग्रा० गी०, भाग १, पृ. २९ (प्रस्तावना भाग)।

नवग्रह की पूजा में इसका उपयोग है। यज्ञोपवीत में ब्रह्मचारी की शिखा को तीन भागों में विभक्त कर प्रत्येक में कुश बाँधा जाता है और इसके पश्चात् ब्रह्मचारी का मुण्डन किया जाता है। सत्यनारायण की कथा में कुश की 'पवित्री' अपने दाहिने हाथ की अनामिका अँगुली में पहनकर यजमान गणेश की प्रतिमा की पूजा करता है। पूजा के सभी अवसरों पर कुश की 'पवित्री' यजमान के द्वारा पहनी जाती है तथा कुश के टुकड़ों से प्रतिमा पर जल छिड़का जाता है। पूजा में कुश की बनी आसनी पर बैठने का विधान है। गीता में श्रीकृष्ण ने कुश के 'आसन' पर बैठ कर योगी को समाधि लगाने का आदेश दिया है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाय स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ गीता ६।१७

सन्ध्या करते समय बाएं हाथ में—कुश का दण्ड (मोटक) और दाहिने हाथ में 'पवित्री' पहिनी जाती है। सूर्य को अर्घ देते हुए जल में कुश डाल कर उन्हें जल देते हैं। दान देते समय दाहिने हाथ में कुश और जल लिया जाता है। शपथ लेते समय भी इसे हाथ में लेकर ही 'कसम खाते' हैं। संभवतः कोई भी ऐसा मांगलिक कार्य नहीं जिसमें कुश का उपयोग आवश्यक न हो।

किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध के अवसर पर पिण्ड दान के लिए जो वेदी बनाई जाती है उसपर कुश बिछाते हैं। पिण्ड के ऊपर भी कुश रखा जाता है। किसी बड़े पिण्ड को अनेक भागों में बाँटते समय उसे कुश से ही काट कर विभाजित करते हैं। मृत व्यक्ति को जलाञ्जलि देते समय कुश और तिल का उपयोग किया जाता है। प्रेतात्मा के लिए जो 'घण्ट' बाँधा जाता है उस घंट में सुपारी और अक्षत के साथ कुश भी डाला जाता है। आश्विन मास में पितृपक्ष के अवसर पर पितरों को जलाञ्जलि या तिलाञ्जलि देते समय इसका प्रयोग विशेष रूप से होता है। यदि कोई मनुष्य परदेश में मर जाता है और उसका अग्नि संस्कार नहीं हो पाता तो कुश से उसकी प्रतिमा बनाई जाती है जो 'कुश पुत्रिका' के नाम से प्रसिद्ध है। मृत व्यक्ति के परिवार वाले उसके असली शव के अभाव में इसी 'कुश पुत्रिका' का अग्नि संस्कार करते हैं और उसके पश्चात् श्राद्ध के सभी विधि-विधानों को सम्पादित करते हैं। इस 'कुश पुत्रिका' का संबंध राम के पुत्र और लव के छोटे भाई कुश के जन्म की कथा से संबंधित जान पड़ता है। किसी व्यक्ति को उसकी मृत्यु के पहिले जो 'भूमिशय्या'—जिसे 'भुई सेज' कहते हैं—दी जाती है वह प्रायः कुश के 'आसनी' की होती है। दूध फट न जाय इसलिए उसमें कुश डाल दिया जाता है।

कुश में भूत को भगाने की शक्ति समझी जाती है। इसलिए जिस व्यक्ति को भूत लगा रहता है उसके भूत को भगाने के लिए ओझा लोग मन्त्र पढ़ कर कुश से उसे 'झाड़ते' हैं। साधू लोग कुश की बनी हुई मोटी मेखला या करधनी पहिनते हैं, जिससे

बुरी आत्मायें उनके पास न आने पावें। धार्मिक प्रवृत्ति के कुछ लोग इसी आशय से अपनी शिखा में कुश और बेलपत्र को बाँधते हैं।

२६—मूँज

मूँज को संस्कृत में 'मुञ्ज' कहते हैं। यह एक बहुत लम्बी घास है जो प्रायः नदियों के किनारे प्रचुर मात्रा में पैदा होती है। जहाँ मूँज ही मूँज उगी रहती है उस विस्तृत मैदानी क्षेत्र को भोजपुरी में 'मुँजवानि' कहते हैं। संस्कृत में करधनी का दूसरा नाम 'मौञ्जी' है जो मूँज की घास से बनाई जाती है। महाकवि कालिदास ने तपश्चर्या में लगी हुई पार्वती द्वारा 'मौञ्जी' मेखला धारण करने का उल्लेख किया है। मूँज बहुत पवित्र समझी जाती है। इसीलिए यज्ञोपवीत में ब्रह्मचारी मूँज की बनी मेखला—जिसे डण्डा कहते हैं—पहनता है। लोक-गीतों में ब्रह्मचारी के द्वारा इसकी मेखला को पहिनने का उल्लेख पाया जाता है[1]। उदाहरण के लिए यह गीत देखिए—

"आरे बइठे कवन बाबा कवन जाँघा जोरी।
आरे तहँवा कवन बरुआ रोदना पसारे रे॥
माई हमरो जनेउवारे कवन विधि होइहैं।
आरे पहिले परिहें मूँज के डाँड़ा,
तब परिहे बरुआ रतन जनेउवारे॥"

साधु लोग—विशेषकर वैरागी—मूँज की मोटी करधनी अपनी कमर में पहनते हैं। कुछ मूँज का बना लँगोट भी लगाते हैं।

मूँज को पानी में भिगोकर और उसे मूँगरी से पीटकर उससे रस्सी बनाई जाती है। इसकी पतली रस्सी को 'बाधी' और मोटी रस्सी को 'बाँध' कहते हैं। मांगलिक कार्यों में सभी जगह इसी 'बाधी' का उपयोग किया जाता है। माँड़ो के प्रत्येक बाँस के सिरे पर आम का पल्लव इसी 'बाधी' से बाँधा जाता है। विवाह के मण्डप का 'छाते' समय बाँधने का काम इसी से किया जाता है। इस अवसर पर विवाह के मण्डप में तथा द्वार पर लगाने के लिए जो तोरण तैयार किया जाता है वह इसी की रस्सी का बनाया जाता है। विवाह-मण्डप के मध्य में स्थापित स्तम्भ—जिसे 'हरिस' कहते हैं—में आम की पत्तियाँ इसी से बाँधी जाती हैं। गंगा की पूजा के समय जिस रस्सी से गंगा को 'ओहारते' हैं वह मूँज (बाधी) की ही बनी होती है।

'बाँध' का उपयोग चारपाई बुनने में किया जाता है। श्राद्ध के अवसर पर जो चारपाई महाब्राह्मणों को दान में दी जाती है वह प्रायः 'बाँध' से ही बुनी हुई होती है। 'पतलो', जिससे विवाह का मण्डप 'छाया' जाता है, मूँज की घास का ही एक प्रकार है। मूँज का उपयोग झाड़ू तथा चूना पोतने की 'कूँची' बनाने में भी किया जाता है। मूँज के भीतरी भाग को 'सींक' कहते हैं। भोजपुरी प्रदेश में बसने वाली नीची जातियाँ, विशेषकर 'नेटुआ' जाति के लोग, इसी सींक की झोपड़ी बनाते हैं, जिसे 'सिरकी'

१. उपाध्याय—भो० ग्रा० गी०, भाग १, पृ. १०९।

कहते हैं। स्त्रियाँ इस सींक का उपयोग 'डाली' और 'मोन्हा' आदि बनाकर घर-गृहस्थी के सामान को रखने में करती हैं, जिसे वे अपनी पुत्रियों के विवाह में 'बउरँहत' के अवसर पर उसकी ससुराल को भेजती हैं।

२७—दूब

दूब को भोजपुरी में 'दूबि' और संस्कृत में 'दूर्वा' कहते हैं। मांगलिक कार्यों में इसका उपयोग निश्चित रूप से किया जाता है। किसी शुभ कार्य के प्रारम्भ में गणेश की पूजा के समय उनकी प्रतिमा पर दूब चढ़ाई जाती है। कुश के अभाव में देवताओं का आसन इसी घास से बनाया जाता है। उत्तर प्रदेश के नैनीताल जिले में शिव की प्रतिमा पर दूब चढ़ाई जाती है। विवाह करने के लिए जाने वाले वर की धोती में दूब, अक्षत, हल्दी और रुपया बाँधा जाता है जो शुभ माना जाता है। इसी प्रकार विवाह के पश्चात् ससुराल जाने वाली वधू के 'खोंइछा' में चावल, हल्दी और दूब बाँध दी जाती है।

दूब सदा हरी रहती है। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् विष्णु ने अमृत का घड़ा एक स्थान पर रख दिया था। कौवे ने आकर उसे पी लिया और उसका कुछ अंश ज़मीन पर गिरा दिया जो दूब पर पड़ गया। इसलिए यह कभी नष्ट नहीं होती और सभी ऋतुओं में हरी-भरी बनी रहती है। नानक ने इस विषय का उल्लेख अपने एक दोहे में किया है[1]। इसीलिए दूब स्त्रियों के सौभाग्य का प्रतीक मानी जाती है। कुयें पर उगी हुई दूब अधिक पवित्र समझी जाती है। बम्बई राज्य के प्रभु जाति के लोग गर्भवती स्त्रियों के बायें नाक में इसका रस निचोड़ कर डालते हैं और उत्तरप्रदेश के कनौजिया ब्राह्मण पति भी स्त्रियों के युवावस्था प्राप्त होने पर ऐसा ही करते हैं[2]।

२८—भँगरिया

इसे संस्कृत में 'भृङ्गराज' कहते हैं। भँगरिया इसी शब्द का अपभ्रंश है। इसके रस तथा तेल में बालों को बढ़ाने की शक्ति समझी जाती है। इसीलिए धनी तथा शौकीन लोग अपने बालों में 'भृङ्गराज तेल' लगाते हैं। श्राद्ध के अवसर पर प्रेतात्मा के सिर के बालों को बढ़ाने के लिए 'पिण्डे' पर भँगरिया का टुकड़ा चढ़ाया जाता है। स्त्रियाँ अपने हाथ में गोदना गोदाने के पश्चात् उसे और अधिक काला करने के लिए इस पौधे का रस निचोड़कर लगाती हैं। गोदना गोदने के लिए जो काला द्रव पदार्थ तैयार किया जाता है वह भँगरिया की पत्तियों को निचोड़कर और उसमें 'कजली' मिलाकर बनाया जाता है। छोटे-छोटे बालक अपनी काठ की पटरी को काली करने के लिए इसका रस उसपर मलते हैं।

१. नानक नन्हा ह्वै रहो, ज्यों नन्हीं सी दूब।
आन घास सूखि जात है, दूब खूब की खूब॥

२. कैम्पवेल—'नोट्स', पृ. ६२।

(घ) शाक

२९—कोंहड़ा

कोंहड़ा को संस्कृत में 'कुष्माण्ड' कहते हैं। यह काशीफल के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका फल बहुत बड़ा होता है, जो शाक बनाने के काम में आता है। इसका फूल पकौड़ी बनाने में प्रयुक्त होता है। इसकी पत्तियों का भी उपयोग शाक के रूप में किया जाता है। कोंहड़ा के छोटे फल को 'बतिया' कहा जाता है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि अँगुली दिखाने से इसकी 'बतिया' नष्ट हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि—

"इहाँ कोंहड़ बतिया कोऊ नाहीं,
जो तर्जनि देखत मरि जाहीं॥"

जब अँगुली (तर्जनी) दिखाने से कोंहड़ की 'बतिया' मुरझाने लगती है तब उसको फिर से हरा-भरा बनाने के लिए रविवार और मंगलवार को, सोने के गहने को पानी से धोकर, उस जल को इस पौधे की जड़ में डालते हैं।

कोंहड़ा पुत्र का प्रतीक माना जाता है, अतः पुत्रवती स्त्रियाँ इसका शाक बनाने के लिए इसे नहीं फोड़ती है। जब कोई पुरुष इसको पहिले फोड़ता है तभी वे इसे शाक के लिए 'चीरती' हैं। रविवार और मंगलवार को इसका शाक बनाना निषिद्ध है। यदि किसी कारण से शाक बनाया भी जाता है तो पुत्रवती स्त्रियाँ उसमें नमक नहीं डालतीं। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से विष्णु भगवान् को कष्ट होता है। कोंहड़े का अधिक संख्या में फलना अपशकुन माना जाता है।

३०—सतपुतिया

यह संस्कृत शब्द 'सप्तपुत्रिका' का अपभ्रंश है। यह सदा 'घवदि' (समूह) में फलता है। स्त्रियों का ऐसा विश्वास है कि इसके शाक को खाने से सात पुत्रों की उत्पत्ति होती है। इसीलिए आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की सप्तमी के दिन स्त्रियाँ जिउतिया (जीवित्पुत्रिका) व्रत के अवसर पर निश्चित रूप से इस शाक को खाती हैं। यह व्रत पुत्रोत्पत्ति तथा उसकी रक्षा के लिए किया जाता है। अतः 'जिउतिया' व्रत के अवसर पर 'सतपुतिया' की तरकारी खाना अत्यन्त आवश्यक है।

३१—करमी

भादों मास के शुक्लपक्ष की पंचमी को 'ऋषि पञ्चमी' नामक व्रत किया जाता है। इस दिन हल से जोत कर पैदा किया गया अन्न खाना निषिद्ध है। इस व्रत में 'तीना' का चावल और करमी का शाक खाना बड़ा पुण्यदायक समझा जाता है। करमी का शाक जल में पैदा होता है। सम्भवतः इसीलिए यह अन्य शाकों से अधिक पवित्र माना जाता है। ऋषि पञ्चमी (के दिन) के अतिरिक्त दूसरे दिन इस शाक का खाना निषिद्ध है,

क्योंकि ऐसा करने से पुण्य कर्म नष्ट हो जाते हैं। परन्तु इस शाक के साथ चने की दाल या चावल मिलाकर बनाया जाय तो उसे खाने में कुछ भी दोष नहीं लगता।

३२—लौकी

यह 'लौका' भी कहा जाता है। शहरी लोग इसे 'कद्दू' कहते हैं। जो 'लौकी' कड़वी या 'तीती' होती है उसे 'तितलौकी' कहते हैं। इसके सम्बन्ध में हिन्दी में एक कहावत भी प्रचलित है कि 'एक तो तितलौकी दूसरे नीम चढ़ी'।

भोजपुरी प्रदेश में लौका प्रचुर परिमाण में उत्पन्न होता है। ठट्टर बाँध कर इसकी बेल को उसपर चढ़ा देते हैं। इसकी बेल को कीड़े न खा जाँय अतएव इसकी पत्तियों पर घर के चूल्हे की राख अथवा कुम्हार के 'आवे' की राख छिड़की जाती है। लौकी की बेल अधिक फल देने वाली हो सके इसके लिए मछली को पानी में धोकर उस जल को इस बेल की जड़ में डालते हैं। लोगों का ऐसा विश्वास है कि ऐसा करने से लौकी में फल लगते हैं। इसके फल में किसी की नजर न लग जाय, अतः मिट्टी की बनी 'हाँड़ी' को काली करके उसमें अंगुली से चूने का सफेद चिह्न बना देते हैं। ऐसा करने से इसके फल को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती और वह लोगों की बुरी नजरों के लगने से बच जाता है। कार्तिक शुक्ल षष्ठी के दिन लौकी का शाक खाने का विशेष महत्त्व है। इसके छिलके को लाँघना मना है, क्योंकि इससे पैर में 'उकवत' नामक रोग होता है। परन्तु इसके छिलके पर थूक दिया जाय तो यह दोष जाता रहता है[1]।

३३—नेनुआँ

इसको 'घेवड़ा' भी कहते हैं। यह लम्बा तथा बड़ा होता है। आश्विन मास के कृष्ण पक्ष में पितृपक्ष के दिनों में इस शाक का खाना निषिद्ध है। जो लोग अपने पितरों को इस पक्ष में तिलांजलि देते हैं वे इसे बिल्कुल नहीं खाते। इसीलिए काशी में यह शाक इन दिनों में बड़ा सस्ता बिकता है, परन्तु जिन लोगों के पिता जीवित हैं वे इस शाक को पितृपक्ष में भी खा सकते हैं।

(ङ) फूल

३४—केवड़ा

केवड़े का फूल बहुत बड़ा एवं लम्बा होता है। इसकी भीनी-भीनी सुगन्ध मन को मस्त करने वाली होती है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि केवड़े के वृक्ष तथा फूल के पास साँप रहता है। इसीलिए कोई केवड़े को अपने दरवाजे पर नहीं लगाता। इसके फूल को घर में रखने से वहाँ साँपों के आने की आशंका रहती है।

३५—अड़हुल

इसका फूल बड़ा लाल होता है। यह पुष्प देवी को बहुत प्रिय है। अतः उनकी पूजा करते समय इसे उनकी प्रतिमा पर चढ़ाते हैं। सूर्य की पूजा भी अड़हुल के

---

१. इन पंक्तियों के लेखक की पूजनीया माता अपने बच्चों को लौकी के छिलके को कदापि नहीं लाँघने देती थीं। लौकी को छीलने के पश्चात् वे तुरन्त उसके छिलके को बाहर फेंक देती थीं।

फूल से की जाती है। सूर्य को अर्घ देते समय लोटे के जल में इस फूल को डाल देते हैं और उसी से सूर्य को जल दिया जाता है। इस फूल के पौधे पर देवी का निवास बतलाया जाता है। अतः स्त्रियाँ अपने छोटे बच्चों को गर्मियों की दोपहरी में इसके पौधों के पास नहीं जाने देतीं। तान्त्रिक पूजा में इस फूल का विशेष रूप से उपयोग किया जाता है। अड़हुल के फूल से डायिन स्त्रियाँ टोना-टोटका भी करती हैं। इस फूल में टोना करके किसी चौरास्ते पर फेंक देती हैं। यदि कोई व्यक्ति इस फूल को लाँघता है तो उसे वह भूत लग जाता है। अतः चतुर स्त्रियाँ अपने बच्चों को चौरास्ते पर पड़े हुए अड़हुल के फूल को कदापि न लाँघने की शिक्षा देती हैं। इसका उपयोग दवा के रूप में भी होता है।

३६—धतूरा

इसको संस्कृत में 'धत्तूर' कहते हैं। संस्कृत तथा हिन्दी कवियों ने 'कनक' के नाम से इसका उल्लेख अपनी कविता में किया है[1]। इसका फूल लम्बा तथा सफेद होता है। यह पुष्प भगवान् शिव को बहुत प्रिय है, अतः उनकी पूजा में धतूरे के फूल और फल का विशेष रूप से उपयोग किया जाता है तथा उनकी प्रतिमा पर चढ़ाया जाता है।

३७—कमल

इसका फूल परम पवित्र समझा जाता है। इसकी पत्तियों को 'पुरइनि' कहते हैं, जिनका उपयोग भोजन करने के लिए 'पत्तल' के रूप में किया जाता है। इसके भीतरी भाग को 'कवलगट्टा' कहते हैं, जिसे बच्चे खाते हैं। इसका 'डण्ठल' 'भसीड़' कहा जाता है जो शाक के रूप में खाया जाता है। सरस्वती कमल के आसन पर विराजती हैं, इसीलिए यह पवित्र माना जाता है। इसे शिव की प्रतिमा पर चढ़ाते हैं। संस्कृत साहित्य में इस पुष्प की बड़ी प्रशंसा की गई है। यह कोमलता और सुन्दरता का उपमान माना जाता है। यह दिन में खिलता है और रात्रि में संकुचित हो जाता है।

३८—कनइला

इस फूल को संस्कृत में 'कर्णिकार' कहते हैं। इसका रंग पीला होता है, अतः यह 'पीत पुष्पी' भी कहा जाता है। भोजपुरी प्रदेश में यह पुष्प प्रचुरता से पाया जाता है। प्रायः सभी देवताओं की पूजा में इस फूल का उपयोग किया जाता है। लोगों का विश्वास है कि इसका फल विषैला होता है। अतः मातायें अपने बच्चों को इसके फल नहीं खाने देतीं। इसकी माला माता देवी को पहिनाई जाती है। मृत व्यक्ति की 'रन्थी' पर इस फूल को बिखेरा जाता है।

३९—सूर्यमुखी

इस फूल के विषय में यह प्रसिद्ध है कि यह सदा सूर्य की ओर मुख किये रहता है। इसीलिए इसका नाम 'सूर्यमुखी' पड़ गया है। प्रातःकाल यह सूर्य की ओर

१. कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है यह पाये बऊराय॥

समाजविज्ञान परिषद्, वाराणसी

उद्देश्य :

परिषद् का उद्देश्य भारतीय समाज का प्रजातिविज्ञान, मानवविज्ञान और समाजविज्ञान की दृष्टि से सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अध्ययन करना, और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए—

भारतीय जीवन के अनेक अंगों के गवेषणा-कार्यों का संचालन करना, देश और विदेश में गवेषार्थियों को छात्रवृत्ति देना।

गवेषकों और विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबन्ध करना, गवेषणा-कार्य के प्रतिफलों और समाजवैज्ञानिक अध्ययनों तथा महत्वपूर्ण व्याख्यानों का प्रबन्ध करना, समान उद्देश्यवाली संस्थाओं, विशेषकर भारत एवं उत्तरप्रदेश की सरकारों से उनकी योजनाओं और सामाजिक अध्ययन-सम्बन्धी कार्यों में सहयोग करना।

प्रत्येक ... सदस्यता-
शुल्क देकर ... आजीवन-
सदस्य बन ...

डा० मंग ... पक्ष)
श्री चन्द्र ... मंत्री)
प्रो० सु
प्रो० वे
शीला
श्री राम
श्री ठाकु
श्री अ
डॉ० रा

समाज ... शित तथा